शिक्षा और समाज व्यवस्था

शिक्षा और समाज व्यवस्था

बर्ट्रेंड रसेल

अनुवादक :
राजेन्द्रसिंह भण्डारी

मूल्य : ६.००

प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि
दिल्ली-६

मुद्रक :
प्रिंट्समैन. दिल्ली

Hindi Translation of
Education And The Social Order
Originally Published by
George Allen Unwin Ltd., London.

क्रम

शिक्षा
और
समाज-व्यवस्था

व्यक्ति तथा नागरिक

आज सभी सभ्य देश शिक्षा को आवश्यक समझते है। तिसपर भी यह धारणा सर्वमान्य नही कही जा सकती है। समाज के चन्द प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा हमेशा इस धारणा को चुनौती दी गयी है। शिक्षा के इन विरोधियों का विरोध इस तर्क पर आधारित रहता है कि शिक्षा अपने घोषित उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकती है। इस मत की जाँच करने से पहले हम शिक्षा के उद्देश्यों और उसकी सम्भावनाओं के विषय में स्पष्ट धारणायें बना लें। इस विषय में कई मत है। एक वर्ग शिक्षा को प्रमुखतया मनोविज्ञान पर आधारित करना चाहता है तो दूसरा समाज की आवश्यकताओ को शिक्षा मे प्रमुखता देना चाहता है। यह विवाद अन्य सभी विषयों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यदि यह मान लिया जाय कि शिक्षा को केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में उपस्थित होने वाली बाधाओं को ही दूर नहीं करना है, अपितु उसे दीक्षित भी करना है, तो प्रश्न उठता है कि शिक्षा अच्छे व्यक्ति बनने की दीक्षा दे या अच्छे नागरिक बनने की? इस विषय पर दूसरे अध्याय में विस्तार से विचार किया जायेगा। यहाँ पर कहा जा सकता है (और हीगेल के विचारों को रखने वाले लोग ऐसा कहेंगे ही) कि अच्छे नागरिक तथा अच्छे व्यक्ति में कोई विरोधाभास नही है। सभी के हित के लिये काम करना ही अच्छे व्यक्ति की विशेषता है और व्यक्तियों के हित में ही सभी का (समाज) हित भी निहित है। यह एक तात्त्विक सत्य है। अस्तु, मैं न तो इसका विरोध करता हूँ और न ही समर्थन। लेकिन वास्तव मे बालक को व्यक्ति के रूप में देखने वाली शिक्षा तथा उसे भावी नागरिक के रूप में देखने वाली शिक्षा में बहुत अन्तर होता है। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का बौद्धिक विकास और लाभकारी नागरिक को तैयार करना दोनों एक ही बात नही है। उदाहरणार्थ गेटे जेम्स वाट से कम लाभकारी नागरिक थे; लेकिन व्यक्ति के रूप मे उन्हे निस्सन्देह जेम्स वाट से ऊँचा समझा जाना चाहिये। व्यक्ति का हित समाज के एक अंश का हित समझना बिलकुल भूल होगी। व्यक्ति के हित के विषय में विभिन्न लोगों की विभिन्न धारणाये है। तिसपर भी किसी भी दृष्टि-

कोण से इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि व्यक्तित्व के विकास हेतु शिक्षा नागरिकता की शिक्षा से बिलकुल भिन्न होती है।

व्यक्ति का हित किसमें है ? मैं इसका उत्तर देने की कोशिश करूँगा। ये मेरे अपने विचार है, जिनसे अन्य लोगों का सहमत होना जरूरी नही।

प्रथमत: मनुष्य को लाइबनीज-वर्णित चिद्बिन्दु की भाँति होना चाहिये। वह ज्ञान को सार-रूप में ग्रहण किये हो। ऐसा क्यो ? इस विषय मे मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे ज्ञान और मस्तिष्क की व्यापकता मनुष्य की दो सर्वोत्कृष्ट विशेषतायें प्रतीत होती हैं। इसीलिये मेरी निगाहो मे न्यूटन मुक्ता-सीप की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। जिस प्रकार कमरे के निविड़तम अन्धकार में उसकी सीमाओं का एहसास नही हो पाता है तथा हम अपने विचारों के अनुसार हर वस्तु की उसमें मौजूद होने की कल्पना कर सकते हैं; उसी तरह विशद-मन व्यक्ति को भी आकाश की गहराई, सूर्य व नक्षत्र-मण्डल का विकास, पृथ्वी के भूगर्भ-शास्त्रीय काल, मानवता का सक्षिप्त इतिहास-प्रभृति विषयों का ज्ञान रहता है। यही मनुष्य के लिये शोभनीय है। यह इस वैविध्यपूर्ण विश्व को और भी अधिक मनमोहक बना देता है। निस्सन्देह अब भौतिकी इतनी प्रगति कर चुकी है कि कल तक भाप के परे प्रतीत होने वाली आकाश की गहराइयाँ, काल का विस्तार, आदि आज गणितज्ञ के समीकरण के गुणकों के समान होकर मापने योग्य प्रतीत होने लगे है। इसके बावजूद मैं मनुष्य के विषय में अपनी पूर्व-धारणा को नही त्यागूँगा। इससे मनुष्य की श्रेष्ठता को कोई आँच आने के बजाय वह नक्षत्र-मण्डल तथा ब्रह्माण्ड के पुरातन युगों के आविष्कर्ता के रूप में और भी अधिक महत्ता प्राप्त कर चुका है। ज्ञान में उसकी क्षति की कल्पना के द्वारा पूर्त्ति हो जाती है।

मनुष्य मे ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है। उसकी यही योग्यता उसे अन्य प्राणियो से श्रेष्ठ बना लेती है। लेकिन केवल उसी मे उसकी पूर्णता नही है। अपने में विश्व को प्रतिबिम्बित करना ही पर्याप्त नही है। यह प्रतिबिम्ब भावना-पूर्ण भी होनी चाहिये—एक ऐसी भावना जो प्रतिबिब के विषय के अनुरूप हो तथा ज्ञान-प्राप्ति पर व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति कराये। लेकिन पूर्ण मानव के लिये जानना तथा महसूस करना ही पर्याप्त नहीं। इस परिवर्तनशील संसार में मनुष्य भी परिवर्तन का एक कारण है। परिवर्तन के मूल होने के ज्ञान के कारण वह अपनी चाहना (इच्छा-शक्ति) का प्रयोग करता है और इस प्रकार शक्ति की अनुभूति करता है। ज्ञान, भावना और शक्ति तीनों की प्राप्ति मनुष्य की पूर्णता के लिये आवश्यक है। पुरातन धर्मशास्त्र के अनुसार शक्ति, बुद्धि तथा प्रेम त्रिमूर्ति के तीनों देवताओ के विशिष्ट गुण है। इस प्रकार मनुष्य ने अनायास ही ईश्वर की अपनी प्रतिमूर्ति के रूप में कल्पना कर ली।

इस विचार-विमर्श में हम मनुष्य की व्यक्ति के रूप मे कल्पना कर रहे है।

हम उस पर उसी ढंग से विचार कर रहे है, जैसे बोद्धों, तपस्वियों, ईसाई सन्तों और सूफियों द्वारा विचार किया गया है। अभी तक हम एक सर्वगुण-सम्पन्न मनुष्य को चित्रित करते रहे है। यह आवश्यक नही कि उसमें मौजूद ज्ञान तथा भावनाओं के तत्त्वों की सामाजिक उपयोगिता हो। ऐसा व्यक्ति केवल अपनी इच्छा तथा शक्ति के प्रयोग द्वारा ही समुदाय का एक प्रभावशाली सदस्य बन सकता है। इच्छा अपने शुद्ध रूप में मनुष्य को केवल एक तानाशाह का पद प्रदान कर सकती है। व्यक्ति की इच्छा अपने एकान्त रूप में ईश्वर की इच्छा की तरह है जो "एवमस्तु" कहने की ही अभ्यस्त रहती है। लेकिन नागरिक का दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न होता है। उसे मालूम रहता है कि विश्व मे उसकी इच्छा ही अकेली नही है। उसे पग-पग पर अपने समुदाय के लोगों की इच्छाओं के अनुसार अपनी इच्छाओं को परिवर्तित करने की कोशिश करनी पड़ती है। व्यक्ति अपनी दुनिया का अकेला प्राणी है तो नागरिक अपने पड़ौसियों से घिरा रहता है। वास्तव में रॉबिन्सन क्रूसो-सरीखे लोगों के अपवाद को छोड़कर हम सभी नागरिक हैं और शिक्षा मे इस तथ्य को विचाराधीन रखा जाना चाहिए। लेकिन दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि सुविकसित-मन व्यक्ति ही समाज का एक उपयोगी सदस्य हो सकता है। यही एक अच्छे नागरिक की विशेपता भी है। उसका आधारभूत गुण सहयोग करना होता है। यह सही है कि वह हर समय ऐसा नही कर सकता; तिसपर भी उसका इरादा ऐसा रहता ही है। असामान्य गुणों वाले मनुष्यों को छोड़कर सभी मनुष्य किसी ऐसे सुलभ उद्देश्य (विचार) की ढूँढ़ में रहते है, जिससे वे सहयोग कर सके। केवल असामान्य रूप से महान् व्यक्ति ही एकान्त में ऐसे विचार की कल्पना कर सकते है, जिससे सहयोग करना अन्य लोगों के हित में हो। ऐसे मनुष्य ही दूसरे लोगो को उस विचार का अनुसरण करने के लिये प्रेरित कर सकते है। भूतकाल मे ऐसी महान् हस्तियाँ भी हो चुकी हैं। पैथागोरस ने रेखागणित का अध्ययन करना उचित समझा। तब से यह अध्ययन का एक विपय बना है। इसके लिये आज का हर विद्यार्थी उन्हे शाप दे सकता है। लेकिन उनके द्वारा चलाये गये इस विपय से पिण्ड छुड़ाना उसके वश की बात नही। परन्तु ऐसे चिन्तक तथा उर्वर मस्तिष्क नागरिक विरले ही होते है। कम-से-कम नागरिकता की दीक्षा देने वाली शिक्षा से तो ऐसी महान् हस्तियों का जन्म असभवप्राय ही है। सरकारें ऐसे नागरिको की कल्पना करती है, जो यथास्थिति के प्रशंसक हों तथा उसे बनाये रखने के लिये कार्य कर सकते हो। एतदर्थ वे यथास्थिति के पुजारियों के निर्माण की चेप्टा में रहती हैं वे मौजूदा अन्याय कर परिस्थितियो के खिलाफ आवाज उठाने वालों को सिर उठाने नही देती है। इसके विपरीत वे भूतकाल के उन्ही नायकों को पूजती है, जिन्होने अपने जमाने के अत्याचारों के खिलाफ जिहाद बोला। यह एक विडम्बना है, अमेरिका के लोग

जार्ज वाशिंगटन और जैफ़र्सन की पूजा करते हैं। लेकिन वर्तमान काल में उनके समान विचारों को रखने वाले लोगों को जेल के सीख़चो के अन्दर वद कर देते हैं। अग्रेज बोआडिसी की प्रशंसा करते है। लेकिन यदि वह आज भारत में जन्म लेतीं तो वें उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते, जैसा रोम निवासियों ने उनके साथ किया। सभी पाश्चात्य राष्ट्र ईसा मसीह के प्रशसक हैं। किन्तु यदि वे आज जीवित होते तो स्कॉटलैंड यार्ड में सन्देह की निगाहो से देखे जाते तथा हथियार ग्रहण करने की अनिच्छा के कारण अमरीकी नागरिकता से वचित रह जाते। यह दिखलाता है कि नागरिकता शिक्षा के आदर्श के रूप मे अपर्याप्त है; क्योंकि नागरिकता के आदर्श के तात्पर्य होते हैं—उर्वर मस्तिष्क की अनुपस्थिति तथा सतारूढ शक्तियो की, चाहे वे सामन्तवादी हों या लोकतन्त्रवादी, की आज्ञा-पालन। यही महान् विभूतियो के लिये असम्भव है। यदि इस प्रवृत्ति पर अधिक ज़ोर दिया जाय तो साधारण लोग उस उच्चता को प्राप्त नही कर सकते है, जिसकी उनमें सम्भावनायें रहती हैं।

लेकिन इसका यह तात्पर्य न समझा जाये कि मैं विद्रोह की वकालत कर रहा हूँ। विद्रोह भी अपने-आपमें चाटुकारिता से किसी प्रकार वेहतर नही; क्योंकि चाटुकारिता की ही तरह विद्रोह की प्रेरणा भी उसके कारण पर आधारित न होकर वाहरी प्रभावों से प्राप्त होती है। विद्रोह के विषय के आधार पर ही उसकी प्रशंसा या भर्त्सना की जानी चाहिये। लेकिन यह मानना ही पड़ेगा कि उचित अवसर पर विद्रोह की गुंजायश होनी ही चाहिये। रूढ़िवादी शिक्षा के द्वारा सिखाई जाने वाली चाटुकारिता ही हर समय हितकर नहीं होती। नये मार्ग या विचार को ढूँढ निकालने की क्षमता विद्रोह तथा चाटुकारिता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। पैथागोरस ने रेखागणित शास्त्र के अन्वेषण के द्वारा अपने उर्वर मस्तिष्क का प्रदर्शन किया।

नागरिकता तथा व्यक्तित्व का विवाद शिक्षा-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, नीति-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। शिक्षा के क्षेत्र में इस विवाद का एक व्यावहारिक पहलू भी है। यह पहलू विलकुल साधारण है। इस पर इसके सैद्धान्तिक पहलू से अलग विचार किया जा सकता है। किसी भी समाज में वालकों की शिक्षा एक बहुत व्ययसाध्य कार्य है। अतः यह भार प्रमुखतया राज्य को ही वहन करना पड़ेगा। वालकों के मस्तिष्क के विकास में रुचि रखने वाला दूसरा सगठन केवल मठ है। स्पष्टतया राज्य का उद्देश्य अच्छा नागरिक बनाने वाली शिक्षा देना होता है। लेकिन कुछ ऐतिहासिक कारणों से रिवाज कुछ ऐसे चल पड़े हैं कि इस उद्देश्य की पूर्ण पूर्ति नही हो सकती है। मध्य युग में शिक्षा का उद्देश्य धर्मगुरु की शिक्षा थी। पुनर्जागरण काल (रीनेसाँ) से आधुनिक काल तक इसका उद्देश्य सज्जन पुरुष का निर्माण करना रहा है। जन-

तन्त्र, जिसमें दिखावे पर विशेष ध्यान होता है, प्रभाव के कारण शिक्षा का ध्येय भद्र दिखने वाले लोगों को जन्म देना रह गया है। फलत: विद्यालयों में बालकों को कई ऐसी अनुपयोगी बातें सिखाई जाती है, जिनका उद्देश्य उन्हें केवल विनम्र बनाना होता है। इसके अतिरिक्त अभी भी शिक्षा में वे मध्ययुगीन धार्मिक प्रवृत्तियाँ चली आ रही है, जिनका ध्येय मनुष्य को ईश्वर के तौर-तरीकों की अनुभूति कराना था। विनम्रता तथा धर्मभीरुता, नागरिक की नही, बल्कि व्यक्ति की विशेषता है। ईसाई धर्म ने ऐसे लोगों के बीच जन्म लिया, जिनके पास शासन की शक्ति नही थी। अस्तु, ईसाई धर्म प्रमुखतया व्यक्तिवादी धर्म है। यह प्रधानतया आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध से सम्बन्धित है। निस्सन्देह इसमें मनुष्य तथा उसके पड़ोसी के सम्बन्धों पर भी विचार किया जाता है। लेकिन ये सम्बन्ध कानून और सामाजिक संस्था-जनित न होकर मनुष्य के संवेगों के प्रतिफलस्वरूप होते हैं।

ईसाई धर्म में आज जो राजनीतिक तत्व प्रवेश कर गया है, वह कान्सटेन्टाइन के समय से आया। इसके पूर्व राज्य के आदेशों का पालन न करना ईसाई का कर्त्तव्य था। इसके विपरीत कान्सटेन्टाइन के समय से राज्य की आज्ञाओं का पालन उसका प्रमुख कर्त्तव्य हो गया है। इस परिवर्तन के बावजूद ईसाई धर्म का अराजकतावादी प्रारम्भ ऐसा असर छोड़ गया है, जिसने इतिहास में कई बार आज्ञा-उल्लंघन की प्रवृत्ति को प्रेरित किया है। कथारी, ऐल्बीजेन्स तथा अध्यात्म-वादी फ्रांसिस्कनों ने विभिन्न अवसरों पर अन्त:प्रेरणा के नाम पर राज्य की शक्ति की अवहेलना की है। प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रारम्भ भी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह के फलस्वरूप हुआ। प्रोटेस्टेन्ट धर्म समर्थक सरकारों के आने के पश्चात् इसका (प्रोटेस्टेन्ट धर्म) एक अधिकार-क्षेत्र भी हो गया। लेकिन इस क्षेत्र में अपनी धार्मिक सत्ता के लिये यह आज तक कोई तर्कयुक्त कारण नही दे सका है। फलत: आवश्यकतावश प्रोटेस्टेन्ट धर्म को धार्मिक सहिष्णुता स्वीकार करनी पड़ी है। यद्यपि कैथोलिक धर्म ने धार्मिक सहिष्णुता को सिद्धान्त-रूप में अभी तक नहीं अपनाया है, तथापि व्यवहार-रूप में उसे भी अपनी सुविधा हेतु उसे स्वीकार करना पड़ा ही है। इस प्रकार कैथोलिक धर्म रोम के सम्राटों की परम्परा का प्रतीक है तो प्रोटेस्टेन्ट धर्म ईसा मसीह के बारह धर्म-प्रचारकों (ऐपोस्टिल्स) तथा प्रारम्भिक पोपों (अर्ली फादर्स) के व्यक्तिवाद का समर्थक है।

धर्मों को दो प्रकारों मे बाँटा जा सकता है। कुछ राजनैतिक होते है तो अन्य व्यक्ति की आत्मा से सम्बन्धित। कन्फ्यूशियसवाद राजनैतिक धर्म है। कन्फ्यू-शियस का जीवन दरबारों में बीता। अत: स्वभावतया शासन से उनका सम्बन्ध रहा। उन्होंने नागरिकों मे ऐसे गुण लाने की चेष्टा की, जिससे शासन अच्छा हो और सुगमतापूर्वक चले। इसके विपरीत बौद्ध धर्म, चाहे वह भले ही अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में राजाओं का धर्म रहा हो, राजनीति से सम्बन्ध न रखने

वाला धर्म है। लेकिन मेरा यह तात्पर्य नही है कि बौद्ध धर्म सदा ही ऐसा रहा। तिब्बत में यह उतना ही राजनीतिक है, जितनी पोप की सत्ता। जापान में मैं ऐसे उच्च बौद्ध पदाधिकारियों से मिला, जिनसे मिलकर मुझे अंग्रेजी गिर्जाओं के प्रशासको का स्मरण हो आया। इस सबके बावजूद कोई भी बौद्ध अपने जीवन के धार्मिक भावनाओ से ओत-प्रोत क्षणो मे अपने-आपको एक एकान्त प्राणी ही समझता है। इसके विपरीत इस्लाम प्रारम्भ से ही राजनीतिक धर्म रहा है। मुहम्मद एक शासक थे। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति तक खलीफाओं ने भी इस प्रणाली को चालू रखा। इस्लाम तथा ईसाइयत मे एक मूल भेद है — खलीफाओं को लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनो सत्तायें प्राप्त थी। मुसलमान इनमे कोई अन्तर नही समझते है। इसके विपरीत ईसाई धर्म ने राजनीति से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण दो परस्पर-विरोधी राजनीतिज्ञों—पोप तथा सम्राट् को जन्म दिया। पोप ने सदा धर्म-निरपेक्ष शासन को महत्त्वहीन बतलाकर लौकिक-सत्ता पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की। रूस में साम्यवाद का जो रूप सामने आया है, वह भी इस्लाम की तरह एक राजनीतिक धर्म है। तिस पर भी यह बैजन्तिनम की परम्पराओं से प्रभावित हुए बिना नही रह पाया है। इसकी बहुत सम्भावना है कि कालान्तर मे वहाँ का साम्यवादी दल मठ (चर्च) का स्थान ग्रहण कर ले। इस प्रकार लौकिक शासन धार्मिक सत्ता से इतना ही स्वतन्त्र रह जायेगा, जितना यह क्रांति के पहले था। अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी रूस पूर्वीय और पाश्चात्य दोनों प्रवृत्तियों से प्रभावित है। रूसी साम्यवादी दल द्वारा खलीफाओं की भाँति शासनाधिकारो का उपयोग उस पर पूर्वी प्रभाव का द्योतक है, जब कि उसका (रूसी साम्यवादी दल) मठ (चर्च) का स्थान ग्रहण करना पश्चिमी प्रभाव का प्रतीक है।

यहाँ पर धर्मो के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि से गौर किया गया है। इसका उद्देश्य यह सुझाना रहा है कि वर्तमान शिक्षा के वे तत्त्व जो व्यक्ति के पूर्ण विकास मे सहायक होते है, प्रमुखतया परम्परागत हैं। नागरिकता प्रधान शिक्षा मे उन तत्त्वो की अवहेलना की अधिक सम्भावना है। नागरिकता की सुविचारित शिक्षा व्यक्तित्व के विकास की शिक्षा मे निहित सभी अच्छाइयों को ले सकती है। लेकिन यदि उसमे दूरदर्शिता का अभाव हो तो वह व्यक्ति को सरकार के हाथो का खिलौना बनाने के प्रयास मे उसके विकास को समाप्त कर देगी। इसलिये संकीर्ण नागरिकता की शिक्षा में निहित दोषों को पहिले ही समझ लेना आवश्यक है। राजकीय शिक्षा-व्यवस्था के संचालक यदि अच्छी नागरिकता का संकीर्ण दृष्टिकोण ले तो उस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का एक नागरिक के रूप में भी विकास नही हो पायेगा। व्यक्तित्व के विकास वाली शिक्षा अच्छे नागरिक तैयार करने मे भी सहायक हो सकती है। लेकिन इसे केवल विशद रुचियों वाले तथा

विकसित-मन व्यक्ति ही समझ सकते है। यह दुर्भाग्य है कि आज ऐसे व्यक्तियों का स्थान प्रशासकीय योग्यता के व्यक्ति या कोरे राजनीतिज्ञ, जो सदा अपनी सेवाओं के लिये पुरस्कृत होना चाहते है, लेते जा रहे हैं।

अच्छी नागरिकता के हेतु दी जाने वाली शिक्षा के उसके उद्देश्यों के अनुसार दो रूप हैं। इसका ध्येय प्रस्तुत व्यवस्था को बनाए रखना या उसे उखाड़ फेंकना हो सकता है। शिक्षा-व्यवस्था में राज्य के महत्त्व को देखते हुए यह प्रतीत होगा कि शिक्षा को सदा यथास्थिति को बनाये रखने के काम में लाया जायेगा। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। रूस के अपवाद को छोड़कर जहाँ कहीं भी समाज-वादियों ने शासन पर आधिपत्य जमाया है, धर्म तथा मध्य-वर्ग का प्रभाव इतना अधिक रहा है कि शिक्षा-प्रणाली काफी हद तक रूढिवादी रह गई है। दूसरी ओर फ्रांस तथा रूस की राज्य-क्रान्तियों से पहले शिक्षा का अधिक प्रचार न होने पर भी वह प्रमुखतया सरकार-विरोधी थी। संयुक्त राज्य अमरीका के अधिक पिछड़े भागों में आज भी यही प्रवृत्ति विद्यमान है। विश्वविद्यालयों की प्रवृत्ति काफी हद तक अनजाने ही ऐसे सिद्धांतों की शिक्षा देना है जो अनभिज्ञ कृषक के, जिसके कर पर ये विद्यालय आधारित रहते हैं, विरुद्ध होते है। किसान स्वभाव-तया ही चाहते है कि शिक्षालयों को उनकी इच्छा के अनुकूल ही शिक्षा देनी चाहिये। लेकिन विद्यालयो के कार्यो तथा उनके द्वारा दी जाने वाली शिक्षा की बारीकियों को न समझ सकने के कारण वे अपनी इच्छा को कार्यरूप देना कठिन पाते है। इन अपवादों के बावजूद आज शिक्षा एक प्रतिगामी शक्ति है। रूढ़िवादी सरकार को यह बल प्रदान करती है तथा प्रगतिशील सरकार का विरोध। यह भी एक दुर्भाग्य है कि विद्यालयो और विश्वविद्यालयों में अच्छी नागरिकता के नाम पर शिक्षा के जिन तत्त्वो को महत्त्वपूर्ण बतलाया जाता है, वे अच्छे तत्व न होकर निकृष्टतम है। उग्र देशभक्ति पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। यह देशभक्ति किसी प्रदेश विशेष के वासियों के प्रति संकीर्ण भक्ति सिखाती है तथा उनकी स्वार्थ-साधना के लिये शेष प्रदेशों के खिलाफ सैनिक शक्ति का प्रयोग उचित बतलाती है। आन्तरिक मामलों के विषय में नागरिकता की यह शिक्षा परम्परागत अत्याचारों को बनाये रखने की चेष्टा करती है। उदाहरणार्थ आम हड़ताल (इंगलैण्ड में) के दिनों मे अधिकांश धनवान युवकों ने हडताल को असफल बनाने के लिए काम करने में ही अपनी देशभक्ति देखी। उनमे से किसी को भी मुश्किल से ही हड़तालियों के पक्ष में सोचने के योग्य बनाने वाली शिक्षा मिली होगी। समाज में विद्यमान अन्यायों के पक्ष में उनकी वैधानिकता तथा नियमितता की दुहाई दी जाती है। रूस को छोड़कर सभी देशों मे शिक्षक स्वभाव से ही डरपोक तथा अपनी आय या तड़क-भड़क के दिखावे के कारण धनी वर्ग के अनुयायी होते है। फलत: उनकी शिक्षा में विधान तथा कानून की महत्ता का

बढा-चढ़ाकर प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति होती है। इन दोनों परिस्थितियों के कारण वर्तमान भूत के वश में रहता है। भूतकाल की इस अतिरंजना के फल-स्वरूप सामाजिक ढांचे मे अपरिवर्तनशीलता आ जाती है। अतः बड़े सुधारों की कामना करने वालों को क्रान्तिकारी बनने के लिये बाध्य होना पड़ता है। लेकिन समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो के विषय में क्रान्तिकारी के विचार भी उतने ही अधिक संकीर्ण तथा अन्ततोगत्वा उतने ही हानिकारक हो सकते हैं, जितने कानून और व्यवस्था के पक्षपाती के।

इतना होने पर भी सुधारवादी कुछ अर्थों में यथास्थिति के पुजारियों से बेहतर शिक्षा दे सकते है। जिस प्रकार घोडा अपने पूर्व-परिचित मार्ग पर चलने का इच्छुक रहना है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य-स्वभाव भी पुरानी बातों को पसन्द करता है। रूढिवादिता के लिये मस्तिष्क की किसी ऊँची प्रक्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत सुधारवादी के लिये प्रस्तुत परिस्थितियों से ऊपर उठकर चिन्तन करने के लिये ऊँची कल्पना-शक्ति आवश्यक है। उसमें परिकल्पित नई मान्यताओं के आधार पर वर्तमान की परख करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। अपने चिन्तन के साथ-ही-साथ उसे यह एहसास भी होना चाहिये कि यथास्थिति के भी पुजारी होते हैं। इसलिये किसी भी विषय पर समझदार व्यक्ति के लिये दो किस्म की धारणाये सम्भव हो सकती हैं। इसके अलावा उसमें प्रस्तुत बर्बरताओं के शिकार लोगो के प्रति सहानुभूति रखने की हिम्मत भी होनी चाहिये। अपने दृष्टिकोण की वजह से मिलने वाले दुःखो को झेलने के लिये उसे तत्पर रहना पडता है। इसलिये यथास्थिति विरोधी शिक्षा द्वारा उसकी पक्षपाती शिक्षा की तुलना में बुद्धि तथा सहानुभूति का दमन कम होता है।

लेकिन सुधारवादी की शिक्षा की भी कुछ कमियाँ है ही। यथास्थिति से वैमनस्यता के दो स्रोत हैं – पददलित से सहानुभूति तथा वैभव-सम्पन्न से घृणा। यदि इसका स्रोत दूसरा हो तो इससे भी सहानुभूति का उतना ही कम विकास होता है, जितना रूढिवादिता से। कई क्रान्तिकारियों को अपने सपनों के संसार में सर्वसाधारण को मिलने वाले सुख से उतना प्रयोजन नहीं रहता, जितना उन अभिमानी सत्ताधारी लोगों से बदला लेने से, जिनसे वे पीडित होते रहते है। इसके साथ-ही-साथ सुधारवादियों में ऐसे समूहों मे संगठित हो जाने की प्रवृत्ति रहती है, जो अपने संकीर्ण सिद्धान्तों की प्रतिगामिता से जकड़े रहते है। उनके सिद्धान्तो में विश्वास न रखना उसी प्रकार घृणित है, जैसे धर्म के प्रति विद्रोह। इसे वे वैभव-सम्पन्न पापियों के पक्ष में विश्वासघात समझते है। रूढ़िवादिता, चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो, बौद्धिकता की क़ब्र है। इस अर्थ में सुधार-वादी की रूढ़िवादिता भी उतनी ही बुरी है, जितनी प्रतिक्रियावादी की।

व्यक्तित्व के विकास-हेतु शिक्षा और नागरिकता की संकीर्ण शिक्षा में एक

महत्त्वपूर्ण विषमता सन्देहास्पद समस्याओं के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में है। विज्ञान ने एक विधि-विशेष—खोज की विधि—को जन्म दिया है। यही परिवर्तन की मूल है। मोटे तौर पर कहा जाये तो वैज्ञानिक रुचि विज्ञान के प्रस्तुत सिद्धान्तों में अटूट विश्वास न रखकर अन्वेषण की प्रेरणा प्रदान करती है। सुशिक्षित नागरिक में नई खोज की क्षमता बहुधा कम होती है। क्योंकि वह अपने बुजुर्गों तथा उच्च लोगों का आदर करेगा; अपने महान् पूर्वजो की पूजा करेगा तथा सभी पुराने विचारों पर आघात करने वाले सिद्धान्तों की ओर भय की दृष्टि से देखेगा। इसलिये विज्ञान पर आधारित वर्तमान राज्य असमंजस में है। कुछ राज्य नये विस्फोटक पदार्थों के आविष्कार करने वाले प्रगतिशील लोगों को पसन्द करते हैं तो दूसरे राज्य उन रूढ़िवादी युवको की कामना करते है, जो भूतकाल की महान् परम्पराओं को चालू रख सकें। वैजन्तिनम के लोग पश्चिमी देशों को थोड़ी धार्मिक छूट देने मात्र से तुर्कों के साथ संघर्ष में सुगमता से उनकी सहायता प्राप्त कर सकते थे। लेकिन हार की सम्भावना के बावजूद उन्होने अपनी परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखना ही बेहतर समझा। फलस्वरूप उन्हें तुर्कों से हार खानी पड़ी। उसी प्रकार ब्रिटिश नौ-सेना के सम्मुख यदि अपने नये विचार वाले नौजवानों की राय के अनुसार चलने या नेलसन की पूजा के कारण बेकार हो जाने का विकल्प प्रस्तुत किया जाये तो वह निस्सदेह दूसरे विकल्प को ही पसन्द करेगी। हमारे पूर्वजों की महान् परम्पराओं का आदर करने में आने वाली सभी आफतें उन्हे सहर्ष स्वीकार्य होंगी। कम-से-कम वे लोग जिनसे सुपरिचित होने की आशा की जाती है, ऐसा ही कहते है।

यह हमारे युग की एक विडम्बना है कि विज्ञान, जो शक्ति और विशेषतया राजकीय शक्ति का स्रोत है, अपनी प्रगति के लिये अन्वेषक के अराजकतावादी दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। वैज्ञानिक मस्तिष्क न तो समयवान होता है और न ही मताग्रही। अविश्वासी का मत रहता है कि सत्य की खोज नही की जा सकती है; जबकि अन्धविश्वासी के अनुसार उसकी पहले ही ढूँढ हो चुकी होती है। वैज्ञानिक का विचार रहता है कि यद्यपि सत्य की पहले ही खोज नहीं हो पाई है; तिस पर भी उसकी खोज कम-से-कम उन मामलों मे, जिनमें वह अन्वेषण करता होता है, अवश्य ही की जा सकती है। लेकिन असली वैज्ञानिक यह भी नही कहेगा कि सत्य की खोज अवश्य ही की जा सकती है। वह अन्वेषणों को निश्चित और पूर्ण न समझकर केवल अनुमान समझता है, जिनको भविष्य में सुधारा जा सकता है। निश्चितता की अनुपस्थिति वैज्ञानिक प्रवृत्ति की भूल है। अस्तु, वैज्ञानिक की धारणायें आनुमानित तथा अन्धविश्वासहीन होती है। उसकी धारणायें जब उसकी अपनी खोजों के फलस्वरूप होती है तो वे सामाजिक न होकर व्यक्तिगत होती है। दूसरे शब्दों में यों कहा जाये कि उसकी धारणाये

समाज द्वारा एक अच्छे नागरिक के लिये हितकर समझी जाने वाली बातों पर आधारित न होकर, उसके अपने निरीक्षण तथा निष्कर्षों के फलस्वरूप होती है। वैज्ञानिक भावना तथा राज्य द्वारा विज्ञान के प्रयोग के ढग में यह सघर्ष अन्ततः विज्ञान की प्रगति को ही रोक सकता है। क्योंकि कालान्तर में वैज्ञानिक प्रगति का रूढिवादिता तथा अन्धविश्वास को बढाने के लिये अधिकतर प्रयोग किया जायेगा। इस सम्भावना को साकार न होने देने के लिये यह आवश्यक है कि विज्ञान की रुझान प्रकट करने वाले बालको को नागरिकता की सामान्य शिक्षा से छूट देकर चिन्तन की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये। परीक्षाओं में विशेष योग्यता प्रदर्शित करने वाले परीक्षार्थियो को अपने नाम के पीछे एल० टी० (लाइसैन्स्ड टु थिक-चिंतन स्वातत्र्य प्राप्त) अक्षर जोड़ने की अनुमति दी जानी चाहिये। तत्पश्चात् ऐसे लोगों को अपने से बडे लोगों को बुद्धिहीन समझने के आधार पर किसी पद से वचित नही किया जा सकेगा।

यदि जरा गंभीरतापूर्वक विचार किया जाये तो प्रतीत होगा कि सत्य का विचार ही ऐसा है, जिसका नागरिकता के सामान्य उद्देश्यो से तादात्म्य स्थापित करना कठिन है। अवश्य ही पलवादियों (प्राग्मेटिस्ट्स) की भाँति कहा जा सकता है कि सत्य के परम्परागत विचार मे कोई बल नहीं रह गया है तथा सत्य वही है, जिस पर सुविधापूर्वक विश्वास किया जा सके। इस धारणा के अनुसार पार्लियामेट के अधिनियम के द्वारा सत्य का रूप निर्धारित किया जा सकता है। ले हन्ट का युवराज (प्रिंस रीजेन्ट) के मोटापे मे विश्वास उनके लिये असुविधा-जनक सिद्ध हुआ। क्योंकि इस कारण उनको वदी होना पड़ा। इसका दूसरे शब्दों मे यह मतलब हुआ कि युवराज दुवले थे। ऐसे मामलों में पलवादी के दर्शन को स्वीकार करना कठिन है। निस्सन्देह युवराज मोटे रहे होंगे। अवश्य ही मैं ऐसे कई तर्को की कल्पना कर सकता हूँ जो इस निष्कर्ष से वचने के लिये पेश किये जा सकते है। "मोटा" एक सापेक्षिक पद है। मुझे उस अवसर का स्मरण हो आता है, जब क्राइस्ट चर्च कालेज के दिवंगत प्राचार्य (लेट मास्टर आफ़ क्राइस्ट्स), जो स्वयं एक बडी हस्ती थे, एक मौज में बैठे थे। अपने-आपको हमारे युग के दो ख्याति-लब्ध लेखकों के बीच बैठे पाकर वे बोले कि "मैं इस समय अपने-आपको अति दुबला महसूस कर रहा हूँ।" अपने मुटापे के लिये पुरस्कृत सुअरों की तुलना में युवराज दुबले रहे होंगे। इसलिये ले हन्ट की उक्ति को और शुद्ध करने के लिये कुछ ऐसा कहना पड़ेगा कि युवराज अधिकतम स्थूल-काय एक प्रतिशत वयस्क पुरुष-वर्ग में आते थे। यह भी कहा जा सकता है कि "युवराज के भार का उनकी ऊँचाई से अनुपात साम्राज्य की केवल एक प्रतिशत पुरुष प्रजा को छोड़कर शेष सभी से अधिक है।" यह कथन भी सदेहास्पद हो सकता है। ऐसी स्थिति में एक प्रतिशत के स्थान पर दो प्रतिशत रखकर इसे

नहीं किया जा सकता है। ऐसे कथन में विश्वास करना सरल हो सकता है। लेकिन एकमात्र इसी आधार पर इसको नहीं करार देना सम्भव नहीं। यह भी हो सकता है कि ऐसे कथन का उच्चारण भी अपराध हो। इसके केवल ऐसे होने के आधार पर भी इसे असत्य नहीं कहा जा सकता है। मैंने यहाँ पर ऐसा उदाहरण दिया है जो आज से एक सौ वर्ष से भी अधिक पहले का है। अतः इसमें अब राजनीतिक उत्तेजना पैदा करने की क्षमता नहीं है। लेकिन इसके अतिरिक्त इसी प्रकार की ऐसी बातें भी है, जिनका कथन आज सरकारों की तीव्र प्रतिक्रिया का विषय हो सकता है। इनमें से कई बातें ऐसी हैं, जिनकी सत्यता से कोई भी वैज्ञानिक मन-व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन जेल के सीखचों से बाहर ही रहने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति इन को (उदाहरण तथा विचार) व्यक्त करने की हिम्मत नहीं कर सकता। संसार की सभी सरकारें जिन तथ्यों तथा सत्यों का प्रकाशन अनिच्छित समझती है, उनको प्रकाश में न आने देने के लिये कई साधनों को प्रयोग में लाती है। जनता के लिए अहितकर समझे जाने वाले ज्ञान का प्रसार करने वालों को कई प्रकार की सजायें दी जा सकती हैं। विशेषतः राजद्रोही तथा अश्लील समझे जाने वाले ज्ञान के विषय में यह और भी अधिक सही है। अस्तु, मैं अधिक उदाहरण नहीं दूँगा—क्योंकि ऐसा करना क़ानून की पकड़ के अन्दर जाना होगा।

अभी तक हम जो विचार-विमर्श करते रहे है, उसके अनुसार यही प्रतीत होता है कि नागरिकता की शिक्षा बहुत हानिकारक है। तिसपर भी सामाजिक सामंजस्य को उद्बोधित करने वाली शिक्षा के पक्ष का तर्क भी काफी प्रभावकारी है।

सभ्य समाज की सुख-सुविधायें सहयोग पर निर्भर करती है। औद्योगीकरण की प्रगति के साथ-ही-साथ सहयोग की आवश्यकता भी उसी मात्रा में बढ़ती जाती है। इसकी अनुपस्थिति में औद्योगिक प्रगति निरर्थक हो जाती है। उदाहरणार्थ—एक सुदृढ केन्द्रीय शासन को छोड़कर चीन के पास वैभव और उच्च संस्कृति के सभी उपादान उपस्थित हैं। लेटिन अमरीका, स्पेन और पुर्तगाल से आजादी प्राप्ति के समय से ही अपने वासियों की अराजकीय प्रवृत्ति के कारण पिछड़ा रह गया है। आसार कुछ ऐसे भी हैं कि संयुक्त राज्य अमरीका भी लेटिन अमरीका के पद-चिन्हों अग्रसर होने की तैयारी कर रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका के सामने आज सबसे बड़ा संकट उसके वासियों के एक बहुत बड़े भाग में नागरिकता के सुदृढ़ विचार की कमी है। यह कमी शिक्षा में नागरिकता की भावना पर कम बल दिये जाने के कारण नहीं है। इसके विपरीत वहाँ का सारा शिक्षा-तन्त्र—पब्लिक स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक—नागरिकता की भावना लाने तथा युवकों को नागरिक के कर्त्तव्यों का ज्ञान कराने के लिये प्रयत्नशील है। शिक्षण-

संस्थाओं के इस प्रयास के बावजूद साधारण अमरीकावासी अपनी अन्वेषण-परम्परा तथा यूरोपवासियों का निकट वंशज होने के कारण एकता की उस भावना की अनुभूति नही करता जो यूरोप के पुराने राष्ट्रों में विद्यमान पाई जाती है। जब तक इस कमी की पूर्ति नही हो जाती, अमरीका के सारे औद्योगिक-तंत्र के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय है।

राज्य-स्तर पर राष्ट्रीय एकता के साथ-ही-साथ, जो आज के राज्यों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है, अन्तर्राष्ट्रीय एकता तथा समस्त मानव-जाति की एक सहकारी इकाई होने की भावना और अधिक आवश्यक होती जा रही है। विशेषत: वर्तमान युग की वैज्ञानिक सभ्यता की रक्षा के लिए यह और भी अधिक आवश्यक है। मेरा विचार है कि इस हेतु न्यूनतम आवश्यकतायें एक विश्व-राज्य की स्थापना तथा उस राज्य के प्रति भक्ति का सृजन करने हेतु विश्व-शिक्षा-व्यवस्था की स्थापना है। सम्भवतया उस शिक्षा-व्यवस्था मे एक या दो शताब्दी तक ऐसी बातें भी सम्मिलित करनी पड़ें, जो व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिये हानिकार सिद्ध हों। यदि इसका विकल्प उपव्यवस्था और सभ्यता की समाप्ति हो तो यह कीमत भी चुकानी ही पड़ेगी। वर्तमान समाज के राजनीतिक तथा आर्थिक तन्त्र एक-दूसरे से भूतकाल की तुलना मे अधिक सम्बन्वित हैं। इन तन्त्रों की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि उसके प्रत्येक स्त्री-पुरुष में नागरिकता की भावना हो। निस्सन्देह विश्व-राज्य के प्रति भक्ति का तात्पर्य वर्तमान राज्य-भक्ति के निकृष्ट परिणामयुद्ध को प्रोत्साहन नही होगा। हो सकता है कि इस प्रकार बौद्धिक तथा सौंदर्यमयी प्रेरणाओं के विकास में तनिक बाधा पड़ जाये; तिस पर भी मेरा विचार है कि निकट भविष्य में विश्व-नागरिकता की भावना की स्थापना की परम आवश्यकता है। विश्व के एक राजनीतिक तथा आर्थिक इकाई के रूप में सुरक्षित हो जाने के पश्चात् व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सुगमता से सम्भव हो जायेगा। लेकिन वर्तमान परिस्थिति मे हमारी सम्पूर्ण सभ्यता ही संकट में है। व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया जाये तो व्यक्तित्व के विकास वाली शिक्षा नागरिकता की शिक्षा से श्रेष्ठ है। लेकिन मुझे भय है कि राजनीति तथा समय की माँग के दृष्टिकोण से देखा जाये तो नागरिकता की शिक्षा को प्रथम स्थान देना ही पडेगा।

२

शिक्षा का नकारात्मक सिद्धान्त

आजकल शिक्षा के तीन प्रमुख सिद्धान्त माने जाते हैं। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यक्ति के लिए सुविधायें प्रदान करना तथा बाधाओं को दूर करना है। व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाना तथा उसकी योग्यताओं का अधिकतम विकास करना, द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है। तीसरा सिद्धान्त शिक्षा को व्यक्ति के दृष्टिकोण से न देखकर समाज के दृष्टिकोण से देखता है। इस मत के अनुसार शिक्षा का ध्येय लाभकारी नागरिको को तैयार करना है। इनमें से प्रथम सिद्धान्त आधुनिकतम तथा अन्तिम सिद्धान्त प्राचीनतम है। दूसरे तथा तीसरे सिद्धान्त पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। दोनों इस मत में एक है कि शिक्षा व्यक्ति को उसके बाहर से कुछ दे सकती है; जब-कि प्रथम विचारधारा के अनुसार इसका कार्य केवल नकारात्मक है। वास्तव में कोई भी शिक्षा प्रणाली इन तीनों सिद्धान्तों में से किसी एक सिद्धान्त पर पूर्णतया आधारित नहीं है। सभी वर्तमान शिक्षा-प्रणालियो मे इन तीनों सिद्धान्तों का विभिन्न अनुपात में समावेश है। मेरा विचार है कि यह सुस्पष्ट है कि तीनों में से कोई भी सिद्धान्त अपने-आपमें पूर्ण नहीं है तथा उत्कृष्ट शिक्षा-प्रणाली से तीनों का उचित मात्रा में सम्मिश्रण आवश्यक है। जहाँ तक मेरा विचार है—यद्यपि प्रथम सिद्धान्त में, जिसे हम शिक्षा का नकारात्मक सिद्धान्त कह सकते हैं, अधिक सचाई है; तिसपर भी इसमें भी सम्पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता है। इस नकारात्मक विचार ने शिक्षा-विषयक प्रगतिशील विचारधारा को बहुत प्रभावित किया है। यह स्वतंत्रता के सिद्धान्त का एक अंग है। इस सिद्धान्त ने रूसो के समय से उदार विचारधारा को प्रोत्साहित किया। यह एक विडम्बना है कि राजनीति के उदारवादी सिद्धान्त का अनिवार्य शिक्षा में विश्वास रहा है; जब कि समाजवादी ही नहीं; बल्कि साम्यवादी भी, काफी हद तक स्वेच्छानुसार शिक्षा ग्रहण करने में विश्वास करते हैं। तिसपर भी यह मत सिद्धान्ततः उदारवाद से सम्बन्धित है। इसमें भी उसी हद तक सम्यता तथा पोचापन है, जितना अन्य क्षेत्रों में स्वतंत्रता के विचार में।

कुछ ही समय पूर्व यह विचार सन्देह से परे था कि शिक्षा का कार्य बालक को इस प्रकार दीक्षित करना है कि वह अपने अभिभावकों के विचारों के अनुकूल बने। उसको आदर्श सूत्रों, परिश्रमशीलता तथा उसके सामाजिक स्तर के अनुकूल ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। इस उद्देश्य की ऐसे बर्बर तरीकों से पूर्ति की जाती थी, जो घोड़ों को प्रशिक्षित करने के तरीकों से किसी प्रकार अच्छे नहीं होते थे। घोडे के प्रशिक्षण मे चाबुक का जो स्थान था, वही बालक की शिक्षा मे डण्डे का था। इससे इन्कार नही किया जा सकता है कि इस प्रणाली की नृशंसताओं के बावजूद, यह सामान्यतया अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर ही लेती थी। उस समय जन-सख्या के एक छोटे वर्ग को ही शिक्षा सुलभ थी। यह शिक्षा बालक में स्वानुशासन, समाजानुकूल व्यवहार, आदेश देने की क्षमता, कठोरता (जो मनुष्य स्वभाव की आवश्यकताओं का कोई ध्यान नहीं रखती थी), आदि आदतें डाल देती थी। डा० कीट तथा उनके समान शिक्षकों के शिक्षार्थियों ने आज के इगलैण्ड को उसका वर्तमान रूप दिया। उन्होंने हमारी सभ्यता के 'आशीष' भारत तथा अफ्रीका के अज्ञानान्धकार में पडे अधार्मिक लोगों को उपलब्ध किये। मैं इस सफलता के महत्त्व को कम करना नहीं चाहता। मेरा यह विश्वास भी है कि किसी अन्य शिक्षा-प्रणाली द्वारा इतने कम परिश्रम से इतनी बड़ी सफलता की प्राप्ति नही हो सकती। इस शिक्षा-प्रणाली के स्नातक अपनी कठोरता तथा बौद्धिक जिज्ञासा की अक्षमता के कारण ऐसे गुणों वाले होते थे, जिनकी एक साम्राज्यवादी जाति के लोगों को पिछड़े लोगो के बीच आवश्यकता होती है। जिस कठोर नियन्त्रण में वे अपना बचपन बिताते है, वैसा ही शासन वे अपने शासितों पर करने की क्षमता रखते हैं। वे यह नहीं जान सकते कि उनकी कथित शिक्षा उनकी इच्छा-शक्ति को बलवती बनाने के प्रयास मे उनकी बौद्धिकता तथा सुकोमल भावनाओं का दमन कर लेती है। अमेरिका में प्यूरिटनिज़्म के प्रभाव के भी यही परिणाम रहे।

रीति-कालीन आन्दोलन भावनाओं की तुलना मे इच्छा-शक्ति पर अनावश्यक तौर से अधिक बल दिये जाने के विरोधस्वरूप था। जहाँ तक शिशु के लालन-पालन तथा शिक्षा का प्रश्न है, यह आन्दोलन प्रभावकारी रहा। लेकिन जहाँ तक शिक्षा के मुख्य क्षेत्र का प्रश्न था—शिक्षा अधिकारी अपनी रूढिवादिता में इतने अधिक निमग्न थे तथा आदेश देने के इतने अधिक शौकीन थे कि रीति-काल (रोमान्टिक एज) के मृदुल आदर्श उन पर कुछ असर न कर सके। केवल वर्तमान काल में ही उनका जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण शिक्षा की विचार-धारा पर कुछ प्रभाव डाल पा रहा है। लेकिन जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में अबव-नीति व्यवस्थित आयोजना के नये रूप की ओर ले गई, उसी प्रकार मेरा विचार है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता का यह सिद्धान्त एक आवश्यक

सीढ़ी होते हुए भी, अन्तिम सीढ़ी नहीं है। मेरा विचार इस अध्याय में इसके पक्ष और विपक्ष पर विचार करने का है।

शिक्षा में अधिकतम सम्भव स्वतन्त्रता का पक्ष बहुत बलशाली है। हम प्रारम्भ में ही यह मान लें कि स्वतन्त्रता की अनुपस्थिति का फल वयस्कों से संघर्ष होता है। इस संघर्ष का गहरा मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। हाल ही तक लोग इस असर से अनभिज्ञ थे। जिस बालक का बलपूर्वक दमन किया जाता है, उसमें प्रतिक्रिया स्वरूप घृणा पैदा होने की सम्भावना रहती है। यदि उसकी घृणा को बिना किसी रुकावट के प्रकट होने का अवसर न दिया जाये तो वह बालक के अचेतन मन में रहकर अन्दर-ही-अन्दर सुलगती जाती है। दुर्भाग्य यह है कि अधिकतर ऐसा ही होता है। इसके बालक के भविष्य जीवन मे बड़े आश्चर्य-जनक तथा बुरे परिणाम होते है। पिता के प्रति घृणा-राज्य, धर्म या किसी विदेशी राष्ट्र के प्रति घृणा में परिवर्तित हो सकती है। इस प्रकार व्यक्ति अराजकता-वादी, अधार्मिक या सैन्यवादी—जैसा उसकी घृणा रूप ले—हो सकता है। कभी कभी बालक की अत्याचारी लोगों के प्रति घृणा भावी पीढ़ी पर उतने ही अत्याचार करने की प्रवृत्ति में प्रतिफलित हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसका फल जीवन के प्रति नैराश्यपूर्ण दृष्टिकोण भी हो सकता है। इससे सुखमय व्यक्तिगत यथा सामाजिक सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकते। मुझे एक दिन एक विद्यालय मे औसत कद के एक बालक को अपने से छोटे बालक को सताते हुए देखने का मौका मिला। मैंने उसको ऐसा न करने के लिए कहा। पर वह बोला, "बड़े लोग मुझे मारते हैं। इसीलिये मैं भी बच्चों को मारता हूँ। क्या यह उचित नही है ?" उसके इन शब्दों में मानव इतिहास का सार भरा था।

शिक्षा मे बल-प्रयोग का दूसरा असर यह होता है कि इस प्रकार मौलिकता तथा बौद्धिक जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। बालकों की ज्ञान-पिपासा काफी हद तक स्वाभाविक होती है। लेकिन अधिकतर उनकी रुचि या धारणा-शक्ति से अधिक ज्ञान देने की चेष्टा की जाती है। फलस्वरूप उसकी ज्ञान-पिपासा समाप्त हो जाती है। जिन बालकों को खाने के लिए बाध्य किया जाता है, उन्हें भोजन से अरुचि हो जाती है। उसी प्रकार बालकों को ज्ञान प्राप्त करने के लिये बाध्य करना ज्ञान के प्रति उनकी रुचि को समाप्त कर देने के तुल्य है। उनका मनन उनके दौड़ने, कूदने या चिल्लाने की तरह स्वाभाविक न होकर केवल अपने बड़ों की प्रसन्नता के हेतु होता है। अस्तु, उनका ऐसा करना स्वाभाविक जिज्ञासा के कारण नही होता है। केवल अपने बड़ो को निगाहो मे सही काम करने की खातिर ही वे ऐसा करते है। स्वत: प्रवृत्ति का हनन विशेषतया कलात्मक विषयों के लिए अधिक हानिकारक होता है। जिन बालको को साहित्य, कला अथवा संगीत की शिक्षा की आवश्यकता से अधिक मात्रा मे दी जाती है, वे शनै:-

शनैः जीवन के सौंदर्यात्मक पहलू मे अपनी रुचि खोते जाते हैं। यही हाल उन बालकों का होता है, जिनकी शिक्षा उनके मनोभावों पर आधारित न होकर केवल बड़ों की कामनाओं पर आधारित होती है। यान्त्रिक युक्तियों में भी अति-शिक्षण बालक की रुचि को समाप्त कर सकता है। यदि बालकों को कक्षा में पाठ के सिल-सिले में साधारण प्रयोग में आने वाले पम्प के सिद्धान्त का अध्ययन कराया जाये तो हो सकता है कि पाठ के द्वारा दिया जाने वाला ज्ञान उसको सुग्राह्य न हो। इसके विपरीत यदि समीप ही कोई पम्प हो और बालक को उसे न छूने का आदेश दिया जाये तो वह अपना सारा खाली समय उसके निरीक्षण में बिता देगा। इसी तरह कई बाधाओं को पाठ को स्वयं सिखने की प्रेरणा जागृत करने से दूर किया जा सकता है। इसके पश्चात् छात्र और शिक्षक में कोई संघर्ष नहीं रहेगा तथा छात्र अध्यापक के द्वारा पढाई जाने वाली अधिकतर बातों को लाभ-कर समझेंगे। चूँकि वे स्वेच्छापूर्वक पढ़ते हैं, अस्तु, उनकी सूझ कुण्ठित नहीं होती। उनके अचेतन-मन में घृणा सुपुप्त रूप मे जीवन-भर तक पड़ी सुलगती नही रहेगी। स्वेच्छापूर्वक, बोलने, आचरण करने और यौन-ज्ञान प्राप्त करने का पक्ष और भी अधिक भारी है। मैं इन विषयों पर आगे चलकर अलग से विचार करूँगा।

इन सब कारणों से सुधारवादी शिक्षा-शास्त्री विद्यालय मे अधिकतम स्वन्त्रता देना चाहते है। मेरा विचार है कि उनका ऐसा सोचना ठीक भी है। तिस पर भी मेरी समझ में तो विद्यालय में स्वतन्त्रता का यह सिद्धान्त हर दशा मे सही नही है। इस सिद्धान्त की भी अपनी सीमायें है। उनको जान लेना भी आवश्यक है।

इसके एक ज्वलन्त उदाहरण के रूप में स्वच्छता को विचारार्थ लिया जाये। प्रारम्भ में ही मैं यह कह देना चाहूँगा कि खुशहाल लोग अपने बच्चों को स्वच्छ रखने पर जरूरत से अधिक ध्यान देते हैं। वे इस अति का कारण स्वच्छता का स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होना बतलाते है। लेकिन असलियत यह है कि वे प्रमुखतया दिखावें के लिए ही ऐसा करते हैं। यदि आप एक स्वच्छ और एक गन्दे बच्चे को देखेगे तो आप स्वभावतः यही सोचेंगे कि स्वच्छ बच्चे के माँ-बाप दूसरे बच्चे के माँ-बाप से अधिक धनवान हैं। फलतः दिखावा करने वाले लोग अपने बच्चों को बहुत ही साफ रखते हैं। यह एक अत्याचार है तथा बाल-सुलभ व उनको शोभा देने वाल कार्यों में बाधक होता है। निस्सन्देह स्वास्थ्य के दृष्टि-कोण से यह अच्छा है कि बालको को दिन मे दो समय, प्रातःकाल बिस्तर से उठते समय तथा रात में सोते समय साफ-सुथरा रहना चाहिये। इन दो कष्टदायक क्षणों के बीच उन्हें दिन-भर मिट्टी खोदने, फुरती और विशेषतः उनके कठोर भागों की खोज करने, अपने कपड़ों को नष्ट करने तथा कीचड़

भरे हाथों को अपने मुख पर पोंछने में व्यस्त रहना चाहिये। बालकों को इन खेलों से वंचित रखने का फल उनकी सूझ तथा खोज की प्रवृत्ति को कम करना और कर्मेन्द्रियों व मांसपेशियों पर नियन्त्रण करने की कोशिश करने से वंचित रखना होता है। यद्यपि धूल में लेटते रहना इच्छित है तिस पर भी स्वच्छता का भी, जैसा कि पहले कहा गया है, प्रातः तथा सन्ध्या के समय अपना महत्त्व है ही। बालक में इस सीमित समय में भी बाध्य किये बिना स्वच्छता की भावना जागृत न हो सकेगी। यदि हम कोई वस्त्र न पहनते तथा किसी गरम स्थान में रहते तो शरीर को ठण्डा रखने के लिए समय-समय पर पानी में जो गोते लगाने पड़ते हैं, वही पूरी सफाई के लिए काफी होते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कपि-मानव अपनी स्वच्छता की व्यवस्था इसी प्रकार करता होगा। लेकिन हम ठण्डी जलवायु में रहने वाले लोग वस्त्र पहनते है। हम अपनी सफाई की ओर पर्याप्त ध्यान नही देते हैं। इसलिए हमारे लिये स्वच्छता की शिक्षा आवश्यक है। यही बात दन्तून करने के विषय में भी है। यदि हम अपने वन में विचरण करने वाले पूर्वजों की तरह कच्चा खाना खाते तो हमे इसकी आवश्यकता न होती। लेकिन जब तक हम भोजन पकाने की बनावटी आदत को पाले हैं, हमें उसे दूसरी कृत्रिम आदत, दन्तून करने से सन्तुलित करना पड़ेगा। "वापस प्रकृति की ओर" वाली विचार-धारा स्वास्थ्य के लिए लाभकारी तब ही हो सकती है, जब वह पूर्ण हो। इसमे वस्त्रों को त्यागना तथा खाना पकाना बन्द करना भी सम्मिलित होना चाहिये। लेकिन यदि हम इतनी दूर जाने के लिये तैयार नही है तो हमें अपने बच्चों को ऐसी आदतों का अभ्यस्त बनाना ही पड़ेगा, जिन्हें वे अपने-आप नही सीख सकते। वर्तमान परम्परागत शिक्षा कभी अनावश्यक तौर से भी बालकों की स्वतन्त्रता को सीमित कर देती है। तिस पर भी जहाँ तक स्वच्छता और स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न है, स्वास्थ्य की खातिर स्वच्छन्दता को कुछ सीमित करना आवश्यकीय है।

समयनिष्ठता एक दूसरा गुण है, जो पूर्ण स्वच्छन्दतामय शिक्षा से प्राप्त नही हो सकता। यह ऐसा गुण है जो सामाजिक सहयोग के लिये बहुत आवश्यक है। इस गुण का आत्मा व परमात्मा के सम्बन्ध, तत्त्वदर्शी (मिस्टिक) की अन्तर्दृष्टि तथा आध्यात्म-नीतिज्ञ के मनन के विषयो-सरीखी बातों से कोई सम्बन्ध नही है। किसी साधु का नशे में मस्त पाया जाना आश्चर्य का विषय हो सकता है; लेकिन उसका कहीं नियत समय से देर में पहुँचना आश्चर्य पैदा नही कर सकता। इस सबके बावजूद साधारण जीवन में समय-पालन अति आवश्यक है। किसी भी गाड़ीचालक या डाकिये के लिए यह उचित नहीं होगा कि वह गाड़ी को चलाने या अपनी डाक को लेने के लिये अन्तःप्रेरणा की प्रतीक्षा करता रहे। वर्तमान युगीन जटिल व भारी-भरकम सगठनों के सुसंचालन हेतु यह अत्यावश्यक है कि

उनमें कार्य करने वाला प्रत्येक व्यक्ति समयनिष्ठ हो। लेकिन समयनिष्ठा की आदत स्वच्छन्द वातावरण में मुश्किल से ही पड सकती है। ऐसा व्यक्ति, जिसकी तबीयत उस पर हावी हो, समयनिष्ठ नही हो सकता। इसीलिये समयनिष्ठता ऊँचे प्रकार के कार्यो के लिये अनुपयोगी होती है। यह सर्वविदित है कि न्यूटन भोजन के विषय में इतने कम समयनिष्ठ थे कि बिना उनके जाने ही उनका भोजन उनके कुत्ते के पेट के हवाले हो जाता था। उच्च किस्म के कार्यों के सफलतापूर्वक सम्पादन के लिये ध्यानमग्न हो जाने की क्षमता आवश्यक है। लेकिन राज-परिवार से लेकर नीचे के सभी लोगो की, जिनके कार्यो के लिये अधिक दक्षता की आवश्यकता नही है, असमयनिष्ठता बहुत हानिकारक होती है। इसलिये यदि बालको को वर्तमान सामाजिक जीवन मे अपने साधारण कर्तव्य-पालन के योग्य बनाना है तो उन्हे नियत समय पर नियत काम करने के लिये बाध्य करना ही पड़ेगा। कवि, सगीतज्ञ, गणितज्ञ, आदि के रूप में असाधारण प्रतिभावान बालकों को समयनिष्ठता से छूट देनी ही होगी। लेकिन शेष ९९ प्रतिशत लोगों को समय-पालन का अनुशासन जरूरी है। यदि बालकों को उनकी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार ही व्यवहार करने दिया जाये तो इस अनुशासन का आना असम्भव हैं। कोई भी कल्पना कर सकता है कि जगलों मे वास करने वाला मनुष्य आज के उपनगरो मे वास करने वाले अपने वंशज की तरह प्रातःकाल के ८.५३ बजे नियमित रूप से शिकार के लिये न जाकर, केवल भूख महसूस करने पर ही आखेट के लिये निकलता होगा। इसलिये जंगलों में भ्रमण करने वाले उस मनुष्य की शिक्षा आज के उपनगरों में वास करने वाले उसके वंशज के लिये नितान्त अपूर्ण है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, जिसके सम्बन्ध में ऊपर कही गयी बाते सही है, ईमानदारी है। मैं इस शब्द का प्रयोग किसी काल्पनिक अर्थ मे नही कर रहा हूँ। मेरा तात्पर्य पराई सम्पत्ति के प्रति श्रद्धाभाव से है। यह मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है। अनुशासनहीन व्यक्ति उचित अवसर देखकर दूसरे की चीजो पर हाथ साफ करने से नहीं चूकता है। अनुशासित व्यक्ति तक के लिये यह बहुधा असम्भव नही है। अन्तर केवल इतना होता है कि अनुशासन उसको इतना सिखा देता है कि प्रारम्भ मे निरापद प्रतीत होने पर भी चोरी कभी खतरे से खाली नहीं होती। मेरा विचार है कि इस विषय पर हमारे कुछ दयावान साथियों के मस्तिष्क में कुछ गलतफहमी है। यह जान लेने पर कि चौर्योन्माद (क्लेप्टोमेनिया) नाम का कोई गुण है, वे सभी प्रकार की चोरी को चौर्योन्माद मानने के लिये तैयार रहते हैं। लेकिन यह उनकी सरासर गलती है। चौर्योन्माद वस्तुओं को ऐसी परिस्थितियों में भी चुराता है, जिसमे पकड़े जाने की स्पष्ट सम्भावना रहती है। लेकिन चोर ऐसा कभी नही करता। इस उन्माद का मनोवैज्ञानिक आधार होता

है। चौर्योन्मादी अनजाने ही ऐसी वस्तुओं की चोरी करता है, जिनका सम्बन्ध प्रेम या मैथुन मे होता है। चौर्योन्माद का निराकरण दण्ड से न होकर मनोवैज्ञानिक तरीकों से ही किया जा सकता है। लेकिन सामान्य चोरी अनायास ही नही की जाती। इसमें विचार की आवश्यकता होती है। इसलिये इसे समाज के द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के द्वारा चोर के लिये अहितकर बनाकर रोका जा सकता है। बालकों के किसी पूर्ण स्वच्छन्दता-प्राप्त समुदाय मे यदि चोर समूह का सबसे अधिक शक्तिशाली बालक न हो तो उसे बड़ा कठोर दण्ड दिया जाएगा। ऐसी अवस्था में वयस्क लोग यह कहकर छुट्टी पाने की चेष्टा करेगे कि बाल-समुदाय के लिये कोई दण्ड-संहिता नही है। लेकिन यह कहना उनका स्वय को धोखा देना होगा। इस बात की अधिक सम्भावना है कि बाल-समुदाय द्वारा अनायास ही अपनाई गई दण्ड-सहिता वयस्को द्वारा तैयार सहिता से अधिक कठोर और अविश्वसनीय हो। यह चोर के हित में भी है कि बालको द्वारा मनमाने ढग से चोरी की सजा दिये जाने के बजाय वयस्क लोग उस ओर ध्यान दे और चोरी का उचित दड दे। अनुकूलित प्रतिवर्त (कन्डिशन्ड रिफ्लेक्स) के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय द्वारा पराई सम्पत्ति के प्रति आदर-भावना पैदा करना कठिन है। लोग के असर मे अन्धे व्यक्ति को चोरी मे पकड़े जाने की सम्भावनायें यथार्थ से कम प्रतीत होती है। फलतः चोर प्रायः लालच के सामने घुटने टेक देता है और अन्ततः बहुधा पकड़ लिया जाता है।

स्वतन्त्रता के पुजारी एक दूसरी भूल भी करते हैं—वे बालक के जीवन में नित्यचर्या के महत्त्व को नहीं समझ पाते है। मेरा यह तात्पर्य नही है कि बालक की दिनचर्या अपरिवर्तनशील हो। क्रिसमस तथा छुट्टी के दिन सरीखे विशिष्ट अवसरों पर उनकी दिनचर्या में कुछ विविधता होनी चाहिए। बालकों को इस विविधता की भी पहले ही से आशा होनी चाहिये। अनिश्चितता का जीवन सदा असुखकारी और क्लान्तकारी होता है, विशेषतः बालकों के लिये तो यह और भी अधिक सही है। बालक को अपनी दिनचर्या के पूर्व ज्ञान से सुरक्षा की अनुभूति होती है। वह अपने संसार को सुरक्षित और नियम से बँधा देखना चाहता है। बालक अपने शिशुगृह (नर्सरी) को एक नियमित रूप से सचालित देखने की कामना करता है। हम लोगों का प्रकृति की विचित्रता में एकता के दर्शन करना ब्रह्माण्ड में बचपन के इसी दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करना है। खतरो को झेलने की शक्ति और साहस इच्छित गुण है। लेकिन उनका विकास सुरक्षा के वातावरण में ही हो सकता है।

दिनचर्या के पक्ष में एक दूसरा तर्क यह है कि बालकों को हर समय अपने कार्य का विषय ढूंढ़ना भी श्रमयुक्त और नीरस प्रतीत होने लगता है। वे चाहते हैं कि उन्हें सदा अपनी स्वेच्छा से काम न करना पड़े तथा बड़ों द्वारा निर्धारित

सीमाओ के अन्तर्गत रहकर ही उन्हें अपनी स्वेच्छा का प्रयोग करना पड़े। बडो की तरह बालक भी कठिनाई पर विजय पाने की प्रसन्नता की अनुभूति करना चाहते है। लेकिन इनके लिये लगातार प्रयास की आवश्यकता होती है। इस गुण को बिना किसी बाह्य प्रेरणा के विरले ही अर्जित कर पाते हैं। अपने-आपको सदा अनुप्रेरित करते रहने का गुण मनुष्य के दुर्लभ गुणों में से एक है। बालको को इस गुण का न तो ज्ञान ही रहता है और न ही कठोर अनुशासन या पूर्ण स्वच्छन्दता के वातावरण में इसका विकास हो सकता है। सैनिक जीवन, और विशेषत: युद्ध के समय, का जैसा कठोर अनुशासन व्यक्ति को बिना बाहरी आदेश की बाध्यता के काम करने के अयोग्य बना देता है। इसके विपरीत बचपन मे पूर्ण स्वच्छन्दता का वातावरण व्यक्ति को क्षणिक आवेगों के आकर्षण का विरोध करने के अयोग्य बना देता है। वह जिस चीज मे रुचि नही रखता है, उस पर अपना ध्यान केन्द्रित नही कर सकता और न ही ऐसे आकर्षणों से अपने आप को दूर रख सकता है, जो उसको उसके असली कार्यों के लिये थकित छोड़ देते है। अस्तु, इच्छा-शक्ति के जागरण के लिये स्वच्छन्दता तथा अनुशासन का उचित मात्रा मे मिश्रण आवश्यक है। दोनों में से किसी एक का आधिक्य इस शक्ति के विकास के लिये हानिकारक होता है।

बालक की दीक्षा में उसका स्वेच्छापूर्वक सहयोग ईप्सित है। जितना ही अधिक बालक स्वेच्छा से दीक्षा ग्रहण करना चाहेगा, उसी मात्रा में अनुशासन की भी कम आवश्यकता होगी। लेकिन बालक के क्षणिक आवेगों को उसकी इच्छा नही समझा जाना चाहिए। स्नेहशील वयस्को से घिरा बालक अपने अन्तर की गहराई में अपने ज्ञान की कमी को महसूस करता है। बालक उनको अपना हितैषी समझता है, जो न तो उस पर अपनी सत्ता प्रदर्शित करने के लिये उद्विग्न रहते है और न ही उसे अपनी स्वार्थ-साधना का हेतु बनाते है। ऐसे लोगों से उस ज्ञान की कमी पूर्ति-हेतु निर्देशन पाने पर वह स्वयं को उनका आभारी महसूस करता है। खिलाडी स्वेच्छया अनुशासित रहते है। जिस प्रकार खिलाड़ी मैदान में विजयश्री प्राप्ति-हेतु ऐसा करते हैं, उसी प्रकार बालक भी बौद्धिक सफलता प्राप्ति-हेतु आवश्यक अनुशासन के अन्तर्गत स्वेच्छापूर्वक रह सकते हैं। परन्तु जिस वातावरण में किसी भी प्रकार का अनुशासन अभिशाप की तरह देखा जाता है, उसमें बालक यह महसूस नही कर सकते कि हर सफलता के लिये स्वेच्छया शासन के अन्तर्गत रहना आवश्यक होता है। बालक को आवारा तथा निष्क्रिय होने से बचाने के लिये उसके सम्मुख सफलता का आदर्श रहना जरूरी है। इसके साथ ही उसे यह एहसास होना भी जरूरी है कि सफलता पाने के लिये कठिन परिश्रम आवश्यक है। पूर्ण स्वच्छन्द वातावरण में इस आवश्यकता की अनुभूति होना अपवादस्वरूप बालको के लिये ही सम्भव है।

जहाँ बालकों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखने वाले शिक्षक के उपर थोड़े बालकों की शिक्षा का भार रहता है, वहाँ सभी काम स्वेच्छया होते हैं। फिर शक्ति के प्रयोग की जरूरत ही नहीं होती है। उदाहरण के लिये दया की भावना को ले लिया जाये। मेरा विचार है कि नसीहत या दण्ड से कटु आचरण पर भले ही रोक लग जाये, लेकिन उनसे निश्चय ही दया की प्रवृत्ति को जागृत नही किया जा सकता। दयावान स्वभाव के लिये जहाँ एक ओर बालक की सहज सुखानुभूति आवश्यक होती है, वहाँ दूसरी ओर बड़ों द्वारा दयावान व्यवहार का उदाहरण प्रदर्शन भी जरूरी होता है। मेरे मतानुसार दयाभाव की एक निरे नैतिक सिद्धान्त के रूप में शिक्षा निरर्थक है।

यह सबसे अधिक महत्त्व की बात है कि अनुशासन कम-से-कम हो। यह ध्यान रहे कि इससे बालक के स्वच्छन्द भाव-प्रकाशन में न्यूनतम बाधा पडे। क्योंकि बालक जब अपने-आपको हर प्रकार से अनुबन्धित महसूस करता है तो सम्भव है कि वह अनिच्छित आदतें सीख ले। इन आदतों का प्रकार उसके चरित्र पर निर्भर करता है। यदि वह बलशाली है तो वह क्रुद्ध विद्रोही की तरह आचरण करेगा। लेकिन इसकी विपरीत परिस्थिति में उसका आचरण पाखण्डपूर्ण चापलूस का होगा। अस्तु, यद्यपि अनुशासन पूर्णतया समाप्त नही किया जा सकता; तिसपर भी इतना ध्यान अवश्य रहे कि उसकी अधिकतम मात्रा वही रहे जो एक सुसंस्कृत तथा योग्य मनुष्य की शिक्षा के लिये अत्यावश्यक हो।

शिक्षण की समस्या सारे विवाद की जड़ है। अपने अनुभव से—और इससे मुझे अचरज भी हुआ है—मैंने महसूस किया है कि कक्षा मे उपस्थिति को अनिवार्य बनाये बिना भी अच्छा अध्यापन करना तथा सुशिक्षित मानव पैदा करना सम्भव है। इस सम्भावना को प्रतिफलित बनाने के लिये कुछ अनुकूल अवस्थाओं का आयोजन आवश्यक है। लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में यह बड़े पैमाने पर सम्भव नहीं है। इसके लिये बड़ों में सच्ची तथा स्वाभाविक बौद्धिक रुचि, छोटी कक्षाये और सहानुभूतिशील, कुशल व दक्ष अध्यापक होने चाहिये। अन्ततः इसके लिये ऐसा वातावरण आवश्यक है, जिसमे कक्षा मे केवलमात्र विघ्न डालने हेतु उपस्थित बालक को कक्षा से बाहर जाकर खेलने के लिये कहना सम्भव हो सके। सामान्य विद्यालयों में इन परिस्थितियों को पैदा करने में अभी काफी समय लगेगा। इसलिए वर्तमान अवस्था में कक्षा में उपस्थिति काफी हद तक अनिवार्य बनानी ही पड़ेगी।

कुछ लोगों का तर्क है कि यदि बालक को लिखने-पढने के लिये उसकी स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाये तो वह अपने पड़ोसी बालकों से पिछड़ने के भय से स्वयं सीख लेगा। इस प्रकार बाध्य किये गये बिना वह ज्ञान-प्राप्ति मे अन्य बालकों से केवल एक या दो साल ही पीछे रह जायेगा। मेरे विचार में यह परोपजीवी की-सी

स्थिति है। ऐसे संसार मे जहाँ अन्य सभी बालक पढ़ना-लिखना सीखते हों, किसी एक बालक के लिये अज्ञान-जनित पिछड़ेपन से बचने के लिये ऐसा प्रयत्न करना सम्भव है। लेकिन सभी बालको को स्वच्छन्द छोड़े जाने की दशा में इस पिछड़ेपन की भावना के लिये कोई गुंजायश नही रह सकेगी। इस प्रकार प्रत्येक पीढी अपनी अगली पीढ़ी से अधिक अज्ञानी होती जायेगी। बहुत थोड़े बालक ही स्वेच्छया पहाड़े सीखना पसन्द करते है। यदि उनके पड़ोसियों को पहाड़े याद करने के लिये बाध्य होना पड़े तो इस बात की आशा की जा सकती है कि वे भी कम-से-कम शरम की खातिर उन्हे याद करने के लिये अनुप्रेरित होगे ही। पर ऐसे समाज में जहाँ किसी को भी पहाड़े याद करने के लिये मजबूर न किया जाये, वहाँ गिने-चुने प्रचण्ड विद्वान ही ऐसे होगे जो नौ छक्के जानते होंगे।

अधिकाश बालको को मूर्त ज्ञान की प्राप्ति सुखकर प्रतीत होती है। यदि वे गाँव मे रहते है तो वे कृषि-क्रियाओं को देखते है और उनके विषय में अनायास ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते है। लेकिन अमूर्त ज्ञान के आधार पर ही वर्तमान सभ्य समाज सम्भव हो सका है। अस्तु, वर्तमान सभ्य समाज की रक्षा का तकाजा है कि बालकों का व्यवहार तथा उनकी शिक्षा कुछ ऐसी भी हो, जिस ओर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति न हो। यह सम्भव है कि इस कार्य के लिये उनको बाध्य न करके लाड-दुलार से काम लिया जाय। लेकिन अवश्य ही इस कार्य को केवल बालक की प्रवृत्ति के भरोसे छोड़ना उचित नहीं है। मेरा विचार है कि वर्तमान समाज की जटिलताओ का ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस मत को सही नहीं बतला सकता है कि शिक्षा का कार्य केवल प्राकृतिक विकास के लिये सुविधाये उपलब्ध करना है। निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह जटिलता इच्छित नही है तथा सादे जीवन की ओर फिर से लौटना ही श्रेयस्कर होगा। लेकिन दुख है कि अब यह न हो सकेगा। क्योंकि ऐसा करने के क्रम में जनसख्या का एक बहुत बड़ा भाग अकाल की गाल में चला जायेगा। यह विकल्प इतना भयावह है कि हमें वर्तमान औद्योगिक सभ्यता के जटिल तन्त्र का पुर्जा होने के लिये बाध्य होना ही पड़ता है। इस विवशता के फलस्वरूप हमे अपने बालकों को इस सभ्यता को आगे बढ़ाने के योग्य बनाने के लिये मजबूर होना पड़ता है। अन्ततः यह सही है कि नकारात्मक शिक्षा-सिद्धान्त मे काफी हद तक सत्यता है तथा उचित भावनात्मक विकास-हेतु उसकी उपयोगिता निर्विवाद है। लेकिन जहाँ तक बौद्धिक तथा तकनीकी शिक्षा का प्रश्न है, उसकी पूर्णता तथा सुपुष्टता को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इन विषयों के लिये इससे भिन्न प्रकार की शिक्षा ही आवश्यक है।

३

शिक्षा और आनुवंशिकता

गर्भाधान के समय ही से जीव तथा वातावरण की परस्पर प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जाती है। मनुष्य या पौधे की बनावट, आदि इस प्रतिक्रिया के अनुसार ही निर्धारित होते है। मैंने अपने इस कथन को अधिकतम सरल तथा विवादहीन बनाने की कोशिश की है; क्योंकि इससे अधिक निश्चयात्मक ढग से कुछ कहना विवाद को न्योता देना होगा। मनुष्य के शरीर तथा चरित्र के निर्माण मे आनुवंशिकता (वश-परम्परा) तथा वातावरण का कितना योग होता है, इस पर लोगों के विभिन्न मत है। वैज्ञानिकों में ही मतैक्य नही है। आनुवशिकी विज्ञ (जेनेटिसिट्स) आनुवशिकता को महत्त्व देते है तो मनोवैज्ञानिक वातावरण को अधिक प्रभावकारी बतलाते है। इस प्रश्न पर वैज्ञानिक ही नही, अपितु राजनीतिज्ञ भी एकमत नही हैं। अनुदारवादी और साम्राज्यवादी आनुवंशिकता (वश-परम्परा) को अधिक महत्त्व देते है। उनके इस दृष्टिकोण की जड़ उनकी श्वेत जातीयता है। लेकिन यह उनका अज्ञान है। इसके विपरीत परिवर्तनवादी शिक्षा (वातावरण) को अधिक आवश्यक समझते हैं। शिक्षा जनतन्त्र की भावना की आधार है। वह रंगभेद की उपेक्षा करती है। आनुवंशिकी विज्ञों और मनोवैज्ञानिकों के द्वन्द्व से यह राजनीतिक द्वन्द्व अधिक प्रभावकारी है। आनुवशिकी-विज्ञ हॉगबैन ने सुजनन विद्या (यूएनिक्स-शिक्षा) का पक्ष नही लिया है, जब कि गोडार्ड और टरमैन-सरीखे राज-मनोवैज्ञानिकों में आनुवशिकता का समर्थन करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इस विचारधारा के अमरीकन सदा चुपचाप नार्डिक लोगों की उच्चता स्वीकार कर लेते है। लेकिन उनमें घनघोर अनुदार विचार वाले लोगों को भी यह स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि उत्तरी कैरोलिना तथा केन्ट्युकी के विशुद्ध इंगलिश व स्काटिश वश के पर्वतीयों की बुद्धि-लब्धि सामान्यतया उनके प्रवासी यहूदियों की बुद्धि-लब्धि से कम होती है।

यह स्पष्ट है कि यह विषय बहुत विवादास्पद है। अस्तु, हम प्रारम्भ से ही कुछ ऐसी बाते मान ले, जिनके विषय में कोई मतभेद न हो। शिक्षा के बहुत बड़े

पक्षपाती भी इससे इन्कार नही करते हैं कि मनुष्यों के बच्चे भी मनुष्य ही होते हैं और उनकी शिक्षण-योग्यता सदा जानवरो से अधिक ही होती है। साथ-ही-साथ वे इस प्रत्यक्ष-सत्य मे भी सन्देह नही करते है कि श्वेत वर्ण लोगो के बच्चे श्वेत वर्ण ही होते है तथा काले लोगो के बच्चे काले ही होते है। दूसरी ओर आनुवंशिकता के भक्त भी इससे सहमत है कि तन्द्राकारी मस्तिष्क ज्वर (इन्सेफेलिटिस लियार्जिका) किसी भी होनहार बालक के उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाओं को समाप्त करने के लिये पर्याप्त है तथा बालकों को शैशव-काल से ही अफीम देने की कुछ अज्ञानी माताओं की आदत उनकी बुद्धि के लिये घातक होती है। लेकिन ये विवादरहित बाते भी हमारे लिये अधिक सहायक सिद्ध नही होती है।

जब इस समस्या पर वैज्ञानिक ढग से विचार किया जाता है तो एक कठिनाई यह पैदा होती है कि वशानुगत गुणो के ग्राहक माँ-बाप ही बालक के वातावरण के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग भी होते है। माता-पिता और उनके बालको के समान व्यवहार का कारण अनुकरण और आनुवंशिकता दोनों हो सकते है। इस दशा मे अनाथालय के बालको से इस हेतु लाभकारी सूचना प्राप्त की जा सकती है। लेकिन दुर्भाग्यवश उनके माता-पिताओ के विषय मे सूचना इतनी कम रहती है कि इसका सम्भव हो सकना मुश्किल है। जन्मजात गुणों का प्रभाव मालूम करने के लिये जुडवाँ-बच्चों का निरीक्षण किया गया है।[1] लेकिन परेशानी यह है कि जुड़वाँ-बालकों का वातावरण भी तो एक ही होता है। हम आशा करें कि भविष्य मे कोई धनी वैज्ञानिक ऐसे ट्रस्ट की स्थापना करेगा जहाँ जुडवाँ-बालको को जन्म के पश्चात् ही विभिन्न वातावरण में रखकर उनका निरीक्षण किया जा सकेगा। यदि कोई रानी जुडवाँ-बच्चों को जन्म दे और उनमें से एक का लालन-पालन राजमहलो में हों तथा दूसरा झोपड़ी के कष्टपूर्ण वातावरण में रहे तो मेरा विश्वास है कि बीस वर्ष की आयु में दोनों की बौद्धिक क्षमता समान नहीं होगी। लेकिन किसी प्रयोग की अनुपस्थिति में मैं अपने इस मत को वैज्ञानिक नही कह सकता। पहले लोगों का विश्वास था कि शाही खानदान के लोगो की ही शाही चाल-ढाल हो सकती है। हेरोडोटस लिखता है कि जन्म से बारह वर्ष की आयु तक एक कृषक के घर मे पाले-पोषे जाने पर भी अपने शाही व्यवहार के कारण साइरस को उसके दादा ने सुगमता से पहचान लिया। लेकिन मुझे भय है कि वंश-परम्परा के पक्षपाती तथा नार्डिक वश की उच्चता के प्रचण्ड पोषक लोग भी इस कहानी की सत्यता में विश्वास करने में कठिनाई महसूस करेंगे।

आनुवंशिकता के प्रभाव की तरह शिक्षा के प्रभाव की भी अतिरजना हुई है। डा० जान बी० वाट्सन का विश्वास है कि उचित शिक्षा के द्वारा किसी भी बालक

---

१. देखिये :—"क्राइम ऐज ए डैस्टिनी" लांगे, अनुवादक जे० बी० एस० हाल्डेन।

को मोजार्ट (महान् संगीतज्ञ) या न्यूटन (महान् वैज्ञानिक) बनाया जा सकता है। लेकिन दुःख है कि उन्होंने हमें अपनी इस शिक्षा के विषय मे कुछ नही बतलाया है। पर शिक्षा के सर्वशक्तिमान होने मे विश्वास करने वाले वे ही अकेले नहीं हैं। उदाहरण के लिये शैले के श्वसुर तथा 'पालिटिक्स जस्टिस' के लेखक गाडविन को लीजिये। उनकी इस सम्बन्धित उक्तियाँ सुस्पष्ट हैं : "इस बात की आशा की जा सकती है कि बुद्धिमान आदमी की खोपडी बेवकूफ की खोपड़ी से बड़ी होगी। यह अन्तर बुद्धिमान द्वारा अपनी बौद्धिक शक्तियो के निरन्तर प्रयोग से आ जाता है। विशेषतः यह स्मरण करने पर कि बालक की खोपडी कितने लचीले पदार्थ से बनी होती है तथा प्रखर बुद्धि लोग कैसे बचपन से ही अपनी भावी ख्याति के लक्षण प्रदर्शित करने लगते है, यह सुस्पष्ट हो जायेगा।" "व्यक्तियों में परस्पर जो मौलिक भेद होते है, उनका मूल उनकी धारणायें और वे परिस्थितियाँ होती है, जिनसे वे प्रभावित रहते हैं। यह विश्वास करना संभव नही है कि एक ही प्रकार की शिक्षा लगभग एक ही किस्म के मनुष्य को न बनाये। कल्पना की जाये कि किसी सम्मानित व्यक्ति ने विश्व-साहित्य में सुलभ समस्त उच्चतम कोटि के तर्कों और उद्बोधनों का श्रवण कर लिया है। इन्ही तर्को और उद्बोधनो को उनकी मूल अच्छाइयों और बुराइयों के साथ बिना किसी परिवर्तन और परिवर्द्धन के ठीक उसी क्रम और मात्रा में किसी अन्य व्यक्ति को दोहराया जाये तो इस प्रकार जिन धारणाओं को जन्म दिया जायेगा, वे सदा एक-समान होंगी। वे ही उद्बोधन व्यक्ति मे बिना किसी परिवर्तन के उसी प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म देगे। वह सम्मानित व्यक्ति जिस विज्ञान या विषय मे रुचि लेगा उसी की तरह संस्कार (शिक्षा) प्राप्त करने वाला हमारा व्यक्ति भी ठीक वही रुचियाँ प्रदर्शित करेगा। संक्षेप मे, संस्कार ही मनुष्य को निर्मित करते है। संस्कारों के प्रभाव की तुलना में शरीर-भेद के प्रभाव और महत्त्व नगण्य है।" इस उक्ति में 'धारणाओं' के स्थान पर "अनुकूलित प्रतिवर्त (कन्डिशन्ड रिफ्लैक्स)" और 'तर्कों' के बदले "उद्दीपन (स्टिमुली)" रख लीजिये और यही अनुच्छेद शैली को छोड़कर ठीक डा० वाटसन लिखित अनुच्छेद प्रतीत होने लगेगा।

शिक्षा के सर्व-शक्तिशाली होनें के विचार के विरुद्ध कई तर्क हैं। गॉडविन के इस विचार से कि सोचने की आदत के फलस्वरूप खोपड़ी के आकार मे वृद्धि होती है, आज कोई सहमत नहीं होगा। चन्द अपवादस्वरूप विचक्षण बुद्धि व्यक्तियों को छोड़कर सामान्य व्यक्तियों की बुद्धि और उनकी खोपडी के आकार मे कोई स्पष्ट सम्बन्ध अभी तक स्थापित नही किया जा सका है। अस्तु, निश्चिततः कुछ नही कहा जा सकता है। मूर्खता को बहुधा खोपड़ी मे जन्मजात खराबी से सम्बन्धित किया जाता है। मेरा विचार है कि डॉ० वाट्सन भी मूढ़ता

का कारण बुरी शिक्षा नहीं बतलायेंगे। मन्द-बुद्धि लोगों की स्थिति भी ऐसी ही है। दूसरी ओर एक गणित-विलक्षण बालक[1] का उदाहरण लीजिये। उसके वातावरण तथा शिक्षा में अन्य बालकों के वातावरण व शिक्षा से कोई अन्तर नहीं था। फिर भी वह बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान मौखिक ही निकाल लेता था। यदि यह स्वीकार किया जाये कि मूढ़ तथा गणित-विलक्षण बालक जन्म से ही सामान्य बालकों से भिन्न होते हैं, तो यह सम्भावना भी असम्भव नहीं है कि जन्म से ही कुछ अन्य अप्रत्यक्ष अन्तर सम्भव हो सकते हैं। अवैज्ञानिक अनुमानों पर विश्वास करना खतरनाक हो सकता है। लेकिन उन अध्यापकों के प्रयोगात्मक अनुभव को तरजीह दी ही जानी चाहिये, जो मेरी जानकारी में इस राय में एकमत हैं कि उनके शिक्षार्थियों में कुछ जन्मजात अन्तर प्रस्तुत रहते हैं। सभी यह स्वीकार करते हैं कि यह निश्चित करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि आनुवंशिकता तथा वातावरण का असर किन-किन बातों पर पड़ता है। मेरे विचार से यह निश्चितप्राय है कि मनुष्यों में कुछ जन्मजात मानसिक तथा बौद्धिक अन्तर अवश्य होते हैं।

गॉडविन और डॉ० जॉन बी० वाट्सन अपने मत को इस तर्क के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि मनुष्य मूल प्रेरणा-रहित है। इस प्रकार अनुभव के बिना उसके मस्तिष्क का कोई अस्तित्व नहीं। डा० वाट्सन के इस तर्क का उत्तर एक ख्याति-लब्ध विद्वान पॉवलोव के प्रयोग से दिया जा सकता है—पॉवलोव का कथन है कि उनके कुत्तों में हिप्नोकैटीज द्वारा बतलाये गये चार प्रकार के स्वभाव पाये गये। उनमें अपने स्वभावानुसार उद्दीपनों के प्रति विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें होती थी। पर डॉ० वाट्सन उत्तर दे सकते हैं कि उनके कुत्तों की विभिन्न प्रतिक्रियायें ऐसी परिस्थितियों के कारण होंगी, जिनका पॉवलोव ज्ञान न कर पाये होंगे और, अस्तु, सभी कुत्ते जन्म से समान रहे होंगे। इसलिये इस सैद्धान्तिक तर्क का उत्तर दिया जाना चाहिये।

तर्क के लिये मान लिया जाये कि अननुकूलित प्रतिवर्त (अनकन्डिशन्ड रिफ्लेक्स - जिन्होंने मूल प्रवृत्तियों का स्थान ले लिया है) सभी नवजात शिशुओं में एक ही होते हैं। क्या इसका यह तात्पर्य है कि बालकों में कोई जन्मजात बौद्धिक अन्तर हो ही नहीं सकते हैं? अवश्य ही नहीं। उदाहरण के लिये अनुकूलित प्रतिवर्त (कन्डिन्शड रिफ्लेक्स) को ही लीजिये—उन्हें कोई शीघ्रता से अर्जित कर लेंगे तो दूसरे देर से। कुछ बालक एकसमान प्रतीत होने वाले उद्दीपनों में प्रस्तुत सूक्ष्म अन्तर को अन्य बालकों से अधिक अच्छी तरह सीख जायेंगे। यदि यह भी मान लिया जाय कि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य अनुकूलित प्रतिवर्त

---

१. हॉलिंगवर्थ लिखित पुस्तक "गिफ्टेड चिल्ड्रेन" में ऐसे बालकों के विषय में पढ़िये।

(कन्डिशन्ड रिफ्लेक्स) अर्जन में सहायता करना ही है, जो एक विवादास्पद विषय है, तो भी इसका यह मतलब कदापि नही कि सभी बालकों में सीखने की शक्ति समान होती है। अस्तु, शिक्षा के प्रचंड हिमायतियो की आनुवशिकता के विरुद्ध स्थिति शास्त्रीय आधार पर भी उतनी ही कमजोर है, जितनी प्रयोगात्मक निरीक्षण के आधार पर।

मनुष्यों मे जन्मजात अन्तर के महत्त्व से इन्कार नही किया जा सकता है, तिस पर भी सुजनन-विद्याशास्त्रियों द्वारा इससे निकाले गये व्यवहारिक निष्कर्ष काफी हद तक अवैज्ञानिक हैं। कोई नही जानता कि समाजोपयोगी गुणो की कौनसी बातें आनुवशिकता से प्राप्त हैं तथा उनमें से कौन प्रभावी (डोमिनेन्ट) और कौन अप्रभावी (रिसेसिव) हैं। इसमें भी समाजोपयोगी बातों के बारे में मतैक्य नही है। अपने सीमित निरीक्षण के आधार पर मैं यह विश्वास करने को तैयार हूँ कि चित्रकारी में निपुणता और गणित में पिछड़ेपन में कुछ पारस्परिक सम्बन्ध हैं। ऐसी परिस्थिति में सुजनन-विज्ञ को क्या करना चाहिये? क्या उसे चित्रकारी में दक्ष, लेकिन हिसाव-किताब रखने के अयोग्य राष्ट्र-निर्माण हेतु कार्य करना है या ऐसे राष्ट्र के लिये जो लेखा रखने में दक्ष, लेकिन चित्रकारी के प्रति उदासीन न हो? वर्तमान मान्य बुद्धि-परीक्षाओं के महत्त्व के विषय में दो राय नहीं हो सकती हैं। लेकिन यह भी मानना ही पड़ेगा कि उनसे नैतिक या कलात्मक गुणों की परीक्षा नही हो सकती है। ऐसी हालत में हीन-बुद्धि लोगों के वन्ध्यकरण के सिवाय अन्य व्यवहारिक सुजनन-साधन नैतिक या वैज्ञानिक किसी भी आधार पर सुरक्षित प्रतीत नही होते। निम्नलिखित मान्यताये भी सही नहीं है: —

कि, नीग्रो जन्म से ही श्वेत-वर्ण लोगों से हीन होते हैं।

कि, एशिया में जन्म लेने वाले लोग यूरोप या अमेरिका में जन्म लेने वाले लोगो से निम्न होते हैं।

कि, ४५° अक्षांश रेखा के उत्तर में जन्म लेने वाले यूरोपवासी इस रेखा के दक्षिण में जन्म लेने वाले यूरोपवासियों से श्रेष्ठ होते हैं।

कि, १००० पौंड वार्षिक आय से अधिक आय वाले लोगों के पुत्र इससे कम आय वाले लोगो के पुत्रों से उच्च वंश के होते हैं।

सुजनन-विद्याशास्त्री इन सभी धारणाओं में विश्वास करते है। प्रथम तीन ने सयुक्त राज्य अमरीका के आप्रवासी नियमो को प्रभावित किया है।

योग्यता उत्तराधिकार में प्राप्त की जा सकती है अथवा नहीं, इसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिये पर्याप्त प्रारम्भिक कार्य की आवश्यकता है। सर्वप्रथम ऐसे मापे जाने वाले मानसिक गुणों की ढूँढ़ करनी होगी, जिन पर शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बुद्धि-परीक्षायें इसीलिये प्रारम्भ की गई। लेकिन वे केवल

बुद्धि-परीक्षार्थियों की सामाजिक परिस्थितियों की एकरूपता की हालत में ही कारगर हो सकती हैं। उदाहरणार्थ धन विषयक प्रश्नों का नगरों के बालक अपने ग्रामीण साथियों से अधिक सुगमता के साथ उत्तर दे सकेंगे। कुछ प्रश्न शब्दों की तुकबन्दी के सम्बन्ध में होते हैं। स्वभावतया इन्हें काव्य में दीक्षित छात्र अन्य छात्रों से अधिक सरलता के साथ हल कर सकेंगे। जब इन परीक्षाओं का प्रयोग विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में वास करने वाले बालकों की पारस्परिक तुलना के लिये किया जाता है तो ये भ्रमोत्पादक हो जाती है। आनुवंशिकता के उपासक ऐसी परीक्षाओं के ऐसे प्रयोग से प्राप्त फलों के आधार पर ही वातावरण के प्रभाव के विरुद्ध अपने मत को आधारित करते हैं।

जब तक बालक अपने माँ-बाप के साथ रहते है, उनमें (बालकों तथा उनके माँ-बाप के बीच) जो पारस्परिक समतायें रहती है, उनको आनुवंशिकता और वातावरण के अनुसार अलग-अलग करना असम्भव है। यदि सारी जनसंख्या की बुद्धि-परीक्षा ली जाये तो अनाथालयों से बड़े उपयोग की सामग्री प्राप्त की जा सकेगी। यदि यह पाया जाये कि किसी अनाथालय के बालकों तथा उनके माता-पिता की बुद्धि में कोई सम्बन्ध है तो यह निश्चय ही आनुवंशिकता की शक्ति का अच्छा प्रमाण होगा। लेकिन अभी तक ऐसा प्रमाण मिलना संभव नहीं हो सका है।

यह मालूम करने के लिये कि बौद्धिक गुण वंश-परम्परा से किन नियमों के अनुसार प्राप्त होते है, चुना गया गुण सरल, सुनिश्चित तथा मापने योग्य होना चाहिये। उदाहरण के लिये परीक्षक एक वाक्य का, जो भरसक अर्थहीन न हो, उच्चारण करे और बालक को उसे दोहराने के लिये कहे। बालक जितने शब्दों के लम्बे-से-लम्बे वाक्य को दुहरा सके, वही उसके उस विशेष गुण की, जो कि सम्भवतया एक इच्छित गुण नहीं है, नाप है। हर कोई जानता है कि मैकाले में यह गुण आश्चर्यजनक मात्रा में था। लेकिन दुःख यह है कि कोई ऐसा प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि उनके माता या पिता में भी यह गुण था। यदि लगातार चालीस वर्ष तक सभी बालकों की उनके जन्म-दिवस पर इसी गुण से परीक्षा ली जाये तो बौद्धिक आनुवंशिकता विषयक बड़ी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

लेकिन मेंडल के अनुयायी ऐसे सांख्यिकीय (स्टैटिस्टिकल) साधनों से कभी सन्तुष्ट नहीं होंगे। उनके मतानुसार पैतृकता के किसी गुण का आधार जीन या जीन-समूह होता है। वे उसको अलग करके अध्ययन कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में ही विश्वास करते हैं। पर मानसिक गुणों की जटिलता को देखते हुए यह कार्य निकट भविष्य में सम्भव नहीं दिखाई देता। यद्यपि यह सम्भव हो सकता है कि चंद मानसिक गुण अन्य गुणों की तुलना से अधिक सरलता से

अलग किये जाने की सम्भावना रखते हों। गणितज्ञता तथा संगीतज्ञता इनके अच्छे उदाहरण हैं। किसी व्यक्ति में इन दोनों गुणों का होना अपवाद रूप में ही सम्भव है। लेकिन जिसमें ये गुण होते हैं, उसमें यह सामान्य मात्रा में न होकर प्रचुर मात्रा में रहते हैं। दोनों गुण वंशानुक्रम से चलते हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि इन पर शिक्षा का असर किस सीमा तक पड़ता है। उदाहरणार्थ मोजार्ट के पिता संगीतज्ञ थे। लेकिन उनके पिता ने उन्हें पैतृकता के रूप में संगीत की योग्यता के साथ-ही-साथ संगीत की शिक्षा भी दी। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अभी अनाथालयों में वास करने वाले बालकों में से अपने जीवन में कोई भी महान गणितज्ञ या संगीतज्ञ नहीं हो पाया है। अस्तु, पैतृकता की परीक्षा करने की यह विधि भी हमारे काम की नहीं है।

गाल्टन तथा उनके अनुयायियों ने सिद्ध करने की चेष्टा की कि योग्यता विरासत में प्राप्त होती है। हो सकता है कि उनके कथन में कुछ सत्यता हो तिस पर भी वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सन्तोषजनक नहीं है। जब तक बालक के वातावरण को उसके माता-पिता के असर से रहित करके निरीक्षण तथा परीक्षण करना सम्भव नहीं होता है, सारा विषय विवादास्पद ही रहेगा।

शिक्षक के दृष्टिकोण से इस विवाद का परिणाम बड़ा सरल है। इस बात की आशा की जा सकती है कि बालकों की बौद्धिक योग्यता में ऐसे भेद भी होंगे, जिनका कारण भिन्न वातावरण के असर में ढूँढना निरर्थक रहेगा। बालकों में पाई जाने वाली प्राकृतिक क्षमताओं को बढ़ाने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिये। यदि वे कोई विशेष योग्यता प्रदर्शित करें तो उनको उनके विकास-हेतु उनकी सामान्य शिक्षा के लिये निर्धारित समय का उपयोग करने की भी छूट दी जानी चाहिये। बालक के वंश, माता-पिता की व्यक्तिगत सफलताओं तथा सामाजिक स्थिति के आधार पर उसके विषय में कोई धारणा नहीं बनाई जानी चाहिये। अभी योग्यता को उत्तराधिकार में प्राप्त करने के प्रश्न पर ढूँढ की काफी गुंजायश है। इस हेतु वैज्ञानिक विधियाँ मालूम करना भी सरल है। लेकिन यदि उन विधियों के अनुसार कार्य किया जाये तो एक पीढ़ी से पहले किसी निष्कर्ष-प्राप्ति की आशा करना निरर्थक है। तब तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का तकाजा यही है कि हम बालकों की जन्मजात योग्यताओं और उत्तराधिकार के नियमों के विषय में अपनी अज्ञानता ही स्वीकार करें।

४

आवेग तथा अनुशासन

सद्व्यवहार की नसीहत देना तथा उसका अभ्यास कराना सदा से शिक्षा के दो उद्देश्य रहे हैं। सदाचार के विषय में समुदायो की मान्यतायें उनकी राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक परम्पराओ के अनुसार विभिन्न होती हैं। उनकी राजनीतिक संस्थायें तथा सामाजिक परम्पराये एक-सी नही होती। इसलिये उनके सदाचार-विषयक विचारो में भी मतैक्य नही पाया जाता है। भू-दास (सर्फ) से लेकर ईश्वर तक की सोपानिक मध्ययुगीन समाज-व्यवस्था में आज्ञापालन सबसे बडा गुण समझा जाता था। बालकों को अपने माता-पिता की आज्ञापालन करना अपने बड़ों का सम्मान करना, पुरोहितों की उपस्थिति में धर्म-भीरुता की अनुभूति करना और भू-स्वामी के सम्मुख विनम्रता का व्यवहार करना सिखाया जाता था। केवल सम्राट् और पोप ही पूर्ण स्वतन्त्र थे। तत्कालीन नीतिकता धर्म पर विश्वास न करने वाले लोगों की उपेक्षा करती थी। अस्तु, वे अपना समय परस्पर लड़ाई में ही बिताते थे। हम तेरहवीं सदी के लोगो के उद्देश्य और विधि दोनो से मतभेद रखते है। लोकतंत्रवाद ने आधिपत्य का स्थान सहकारिता और सम्मान-भाव का स्थान यूथवृत्ति (सामूहिकता की भावना) को दे दिया है। राष्ट्र वह समूह है, जिसके सम्बन्ध में सामूहिकता की भावना सबसे अधिक कार्य करती है। इसको पहले मठ (चर्च) की सर्वव्यापकता के कारण नगण्य समझा जाता था। अब प्रचार अधिक ओजपूर्ण होने के बजाय उत्तेजना-प्रधान रह गया है। प्रचार-कार्य अब नवयुवकों की भावनाओं को उत्तेजित करके किया जाता है। मठों का संगीत, विद्यालयों में गाये जाने वाले गीत तथा झंडे का बालक पर इतना अधिक असर रहता है कि वह भावावेग में आने पर उन्ही के अनुरूप कार्य करता है। इनके प्रभाव के सम्मुख तर्क की शक्ति नक्कारखाने में तूती की आवाज के तुल्य है।

प्रारंभिक शिक्षा राजनीतिक विचार-धाराओं से कम ही प्रभावित प्रतीत होती है। उस अवस्था के अध्यापकों का अध्यापन भी प्रायः उनसे अछूता ही रहता है। इसलिये मैं फिलहाल सदाचार की शिक्षा के विषय में, बिना समाज-व्यवस्था

की ओर दृष्टिक्षेप लिये हुए, विचार करने का इरादा रखता हूँ। शिक्षा तथा समाज-व्यवस्था पर मैं अन्यत्र विचार करूँगा।

किसी बालक या जानवर को इच्छित ढंग का व्यवहार करने के लिये प्रोत्साहित करने की दो विधियाँ हैं। यदि एक ओर हम पुरस्कार और दंड की सहायता से बालक या जानवर को कोई व्यवहार करने या न करने के लिये प्रेरित कर सकते हैं, तो दूसरी ओर उनमें अनुकूल भावनाओं को जागृत करके उसे इच्छित व्यवहार करने के लिये भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।

पुरस्कार तथा दंड के चतुर-चयन के द्वारा प्रकट व्यवहार को काफी हद तक प्रभावित किया जा सकता है।

सामान्यतः पुरस्कार तथा दंड के लिये केवल प्रशंसा या भर्त्सना का प्रयोग ही पर्याप्त होता है। इस विधि के द्वारा स्वभाव से ही संकोचशील स्वभाव के बालकों में साहसिकता तथा पीड़ा-भीरु बालकों में सहनशीलता जागृत होनी सम्भव हो सकती है। यदि सदाचार की आदत पहले से न पड़ गयी हो तो तरुणावस्था में दूसरों की हेय निगाहों सरीखे भीषण दंड-प्राप्ति के भय से सरलता से हो सकता है। युवक किसी को भी 'शोभनीय' कहे जाने वाले आचरण का व्यवहार करते देखकर उसे जल्दी सीख लेता है। केवल उसके प्रतिकूल आचरण करने पर लोगों की बुरी धारणाओं की सम्भावना से बचने के लिये वह ऐसा करता है। जिन लोगों को प्रारम्भ से ही उनके प्रति उनके समुदाय की बुरी धारणायें सबसे बड़ी दुर्भाग्य होना और इसलिए उससे डरना सिखाया जाता है, वे अपने से निम्नकोटि के लोगों की घृणा से बचने के लिये ऐसे युद्ध में भी अपना खून बहा देंगे, जिसके विषय मे उन्हें कुछ ज्ञान न हो। इंगलैण्ड के पब्लिक स्कूलों में इस विधि का पूर्ण उपयोग किया जाता है। इस प्रकार युवक की बौद्धिकता समाप्त हो जाती है तथा उसे झुंड के सामने घुटने टेकने के लिये बाध्य होना पड़ता है। और—इसे ही बालकों को बहादुर बनाना कहा जाता है!

इसलिये सामाजिक शक्ति के रूप में आचारवादी का 'अनुकूलित' करने का ढंग बहुत महत्त्वपूर्ण और सफल है। इससे व्यक्ति को ऐसा आचरण करने के लिये भी प्रेरित किया जा सकता है (और यह किया भी जाता है, जैसा कि वह अन्यथा बिलकुल न करता।) इससे लोगों के प्रकट व्यवहार में एकरूपता लाई जा सकती है। तिस पर भी इसकी कुछ सीमायें अवश्य हैं।

मनोवैज्ञानिकों को पहले भी अन्तर्दृष्टि के द्वारा इन कमियों का ज्ञान था। लेकिन फ्रायड ने सबसे पहले इन कमियों पर वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डाला। हमारे लिये मनोविश्लेषण की लाभकारी ढूँढ यह है कि व्यवहारवादी के तरीकों के कारण जो इच्छा प्रकट होकर कार्यरूप नहीं ले सकती है, वह समाप्त नहीं हो जाती। इसके बजाय वह हमारे अचेतन-मन मे प्रवेश करती है और फिर उन क्षेत्रों

में प्रकट होती है जो प्रतिबन्धित नही होते हैं। इन प्रेरणाओं का यह नया रूप बहुधा उनके प्रतिबन्धित रूप से अधिक हानिकर होता है। इसके अन्यथा इस दिशा-परिवर्तन का परिणाम मानसिक अशान्ति तथा शक्ति का अपव्यय भी होता है। अतः चरित्र की शिक्षा के लिये केवल व्यवहार को समाजानुकूल बनाना पर्याप्त समझना एक बहुत बडी भूल है। इसलिये संवेगों के प्रति प्रकट व्यवहार की तुलना मे अधिक ध्यान देना नितान्त आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी बुरी आदतें भी है, जो पुरस्कार या दंड की विधि से दूर नही की जा सकती है। व्यवहारवादी भी इसे कबूल करते हैं। बिस्तर में पेशाब करने की आदत उनमे से एक है। बढती हुई उम्र के बावजूद यदि यह आदत चालू रहती है तो दड देने से यह और भी उग्र हो जाती है। मनोवैज्ञानिक इस सत्य से काफी समय से परिचित है। लेकिन अभी तक अधिकतर अध्यापक यह देखते हुए भी कि उनकी निरन्तर प्रताडना के बावजूद इस आदत में कोई सुधार नही होता, इस तथ्य से अवगत नही हो पाये है। बड़े बालकों में इस बुरी आदत का कारण उनके अचेतन मन मे निहित मानसिक अशान्ति होती है। इसके उपचार हेतु पहले उस अशान्ति के कारण की ढूंढ तथा उसका निराकरण आवश्यक है।

यही मनोवैज्ञानिक नियम अन्य अपेक्षाकृत कम प्रकट उदाहरणों में भी काम करता है। मानसिक असन्तुलन के मामलों में इसकी सत्यता अब सर्व-विदित है। उदाहरणार्थ चौर्योन्माद (क्लेप्टोमीनिया) बालकों में बहुधा पाया जाता है। साधारण चोरी की भाँति इसका उपचार दड द्वारा नहीं किया जा सकता है। केवल इसके मनोवैज्ञानिक कारण के निराकरण द्वारा ही इसका उपचार सम्भव है। एक बात जो भली भाँति महसूस नही की जाती है, यह है कि हम सभी थोड़ी-बहुत मात्रा में भावना-जन्य मानसिक द्वन्द्व के शिकार है। किसी आदमी को अपने समकालीन लोगों की तरह स्वस्थ-मन होने पर समझदार कहा जाता है। लेकिन साधारण व्यक्ति की धारणायें, जो उसके मत तथा कार्यो को प्रभावित करती रहती है, इतनी अधिक हास्यास्पद होती हैं कि वास्तविक समझदार लोगों के समाज मे उसे अवश्य विक्षिप्त कहा जावेगा। समाज-विरोधी भावनाओं को अछूता छोडकर समाजोचित अच्छे व्यवहार की शिक्षा देने की परिपाटी हानि-कारक है। जब तक ये आवेग क्रियाशील बने रहते है तथा इनको प्रकट होने का अवसर नही दिया जाता है, ये और अधिक शक्तिशाली होते जाते हैं। अन्ततः इनकी प्रतीति ऐसी अत्याचारी भावनाओं में होती है, जिनका फिर दमन सम्भव नही हो सकता है। क्षीण इच्छा-शक्ति वाले व्यक्ति मे ये ऐसे अपराध या आचरण का रूप धारण कर लेती हैं, जिन्हे समाज में दंडनीय समझा जाता है। दृढ़ इच्छा-शक्ति वाले व्यक्ति मे ये और भी अधिक अनिच्छित रूप धारण कर लेती है। वह

घर पर अत्याचारी, अपने व्यवसाय में किसी का विचार न करने वाला, राजनीति में झगड़ालू तथा सामाजिक नैतिकता में दूसरों को दुख देने वाला हो सकता है। इन सब अवगुणों के लिये इन्हीं अवगुणों वाले दूसरे लोग उसकी प्रशंसा करेंगे। वह अपनी शक्ति तथा स्थिति के अनुसार अपने नगर, राष्ट्र या युग को घृणामय तथा दुखमय बनाने पर भी अपने समीचीन लोगों का सम्मान-भाजन बना रहेगा। अतएव व्यक्ति को मानवता को सुखी बनाने योग्य होने के लिये सद्व्यवहार की शिक्षा के साथ ही उसकी भावनाओं का परिष्कार भी जरूरी है। यदि मानव-जीवन को सुखी बनाने की क्षमता ही हमारे ईप्सित व्यवहार का मापदंड है तो चरित्र की शिक्षा में कुछ अन्य बातों का समावेश आवश्यकीय है।

इन विचारों तथा बाल-जीवन के सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण के पश्चात् इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि चरित्र की शिक्षा का व्यवहारवादी ढंग अपूर्ण है तथा उस कमी की पूर्ति किसी भिन्न विधि से की जानी आवश्यक है।

बाल-जीवन का अनुभव बतलाता है कि बाह्य व्यवहार के अतिरिक्त भावनाओं को भी इच्छित रूप देना सम्भव है। इस हेतु बालकों को ऐसा वातावरण सुलभ होना चाहिये कि जिसमें इच्छित आवेग सहज हो सकें और अनिच्छित आवेग अपवादस्वरूप ही दिखाई दे सकें। मनुष्यों के स्वभाव में अन्तर होता है। कुछ बालक (और कुछ वयस्क भी) प्रसन्न-वदन होते हैं तो कुछ के चेहरे सदा निराशा की मूर्ति बने रहते हैं। यदि एक बालक के लिये प्रसन्नता का कोई भी विषय आह्लादित करने के लिये पर्याप्त होता है तो दूसरा ऐसा भी होता है, जिसे उसकी मन-भाई वस्तु के अतिरिक्त कोई भी वस्तु उसके चेहरे की मुर्दानगी नहीं छुड़ा सकती है। कुछ स्पष्ट प्रमाण होने पर भी दूसरों पर अविश्वास मुश्किल से कर सकते हैं, तो कुछ का दूसरों को सदा सन्देह की दृष्टि से देखना स्वभाव ही बन जाता है। सामान्यतया बालक आदतन वयस्क के सम्मुख अपनी कुछ भावनाओं या कमजोरियों को प्रकाश में आने नहीं देना चाहता। कुछ बालक इस काम को करने में सिद्धहस्त होते हैं तो अन्य नहीं। अतः यह अति आवश्यक है कि बालक का भावनात्मक दृष्टिकोण ऐसा हो कि उसका बचपन तथा वयस्क जीवन दुखी, असफल तथा द्वेषपूर्ण न होकर सुखी, सफल तथा लाभकारी हो। इसमें सन्देह नहीं कि मनोविज्ञान की सहायता से ऐसा वातावरण बनाया जा सकता है कि बालक में इच्छित आवेग ही प्रस्फुटित हो सकें। इसके साथ ही यह भी निस्सन्देह है कि वैज्ञानिक ज्ञान की अनुपस्थिति के बावजूद विवेकपूर्ण स्नेह के द्वारा भी इच्छित फल-प्राप्ति हो सकती है। जहाँ इस विधि का चतुराईपूर्ण प्रयोग किया जाता है, इसका असर चरित्र पर पुरस्कार तथा दंड की विधि से भी अधिक प्रभावकारी तथा सन्तोषजनक होता है।

बालक के लिये उचित भावनात्मक वातावरण की व्यवस्था करने की समस्या

बड़ी विकट है। बालक के आयु-परिवर्तन के साथ इसमें भी परिवर्तन होना चाहिये। सम्पूर्ण बचपन में बालक को सुरक्षा की भावना का अनुभव करना आवश्यक है। इस भावना की मात्रा में उत्तरोत्तर कमी आ जानी चाहिए। बालक को सुरक्षा की भावना देने के लिए उससे स्नेहपूर्ण व्यवहार तथा उसकी सुखदायक दिनचर्या आवश्यक है। बड़ो के साथ अपने सम्बन्धों में उसे आह्लाद और शारीरिक सुख महसूस करना चाहिये। वह उद्विग्न न हो जाये। अन्य बालको के साथ उनकी घनिष्ठता होनी चाहिये। इन सबके ऊपर उसको क्रियात्मक गवेषणात्मक, बौद्धिक तथा कलात्मक क्षेत्रो में अपनी सूझ से काम लेने की छूट होनी चाहिये। बालक की सुरक्षा तथा उन्मुक्तता दो परस्पर-विरोधी आवश्यकतायें है। प्रथम के ह्रास के आधार पर ही द्वितीय की प्राप्ति हो सकती है। बालक से उसी हद तक प्यार करना चाहिए जो उसको सुरक्षा की भावना दिलाने के लिए पर्याप्त हो। कही ऐसा न हो कि अति स्नेह-प्रदर्शन से उसकी स्वच्छन्दता की भावना सीमित हो जावे तथा वह भावुक हो जाये। उसके खेलों मे केवल उसके समवयस्कों को नही, अपितु उसके माता-पिता को भी सहयोग करना चाहिये। यह बालक तथा माता-पिता के मध्य सौष्ठवपूर्ण सम्बन्धों के लिए आवश्यक भी है।

वर्तमान परिस्थितियो में स्वतन्त्रता की व्यवस्था करना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक पिछले अध्याय मे दिये गये कारणों से मैं निर्वाधित स्वतन्त्रता के पक्ष मे नही हूँ। लेकिन मैं कुछ ऐसे विषयों में बालकों को स्वतन्त्रता देना चाहता हूँ, जिसको अधिकतर प्रौढ़ लोग असह्य समझते है। बालकों को अपने बड़ों का सम्मान करने के लिए बाध्य नही किया जाना चाहिये। यदि बालक चाहे तो बड़ो को उन्हें अपने-आप (बड़ो) को बेवकूफ कहने की छूट तक दे देनी चाहिये। केवल भाव-प्रकाशन स्वतन्त्रता से वंचित करने मात्र से हम बालकों को अपने-आप (बड़ो) को मंदबुद्धि सोचने से नही रोक सकते। सत्य तो यह है कि यदि उन्हें ऐसा प्रकट करने दिया जाय तो वे हमारे प्रति और भी अधिक बुरी धारणायें बना लेंगे। बालको को सौगन्ध लेने से मना नही करना चाहिये। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि सौगन्ध लेनी अच्छी बात है। उन्हें इस अर्थ मे छूट देने का तात्पर्य यही है कि वे इस सत्य को देख सकें कि सौगन्ध लेना या न लेना बराबर ही है और अस्तु, सौगन्ध लेना निरर्थक है। उन्हें यौन-विषयक प्रतिबन्धों से मुक्त रखा जाये तथा ऐसे प्रतिबन्धो की पृष्ठभूमि में पलें प्रौढ़ जब उनकी तद्विषयक बातचीत को अश्लील समझे तो उनको बात करने से रोका न जाये। यदि वे धर्म, राजनीति, नीतिशास्त्र, आदि पर ऐसे विचार प्रकट करे जो प्रौढ के मत से सही नहीं है तो उनका उत्तर केवल तर्क ही से दिया जाये। लेकिन ध्यान रहे कि यह तर्क पुराने रूढिवादी विचार न होकर, सही अर्थो में तर्क होना चाहिये। प्रौढ़ उनके विचारार्थ

उनके सम्मुख समस्यायें रख सकते हैं। यह वाञ्छित भी है। लेकिन उन्हें उनके ऊपर अपने निर्णय कभी नहीं थोपने चाहिये।

ऐसे वातावरण में पाला-पोसा गया बालक एक निर्भीक तथा प्रसन्नवदन युवक होगा। उसे अति लाड-दुलार के वातावरण के प्रतिबन्धों तथा कृत्रिमता-जनित असन्तोष छू न सकेगा। उसकी बुद्धि का स्वच्छन्द विकास होगा। असन्तोष की भावना न होने के कारण मानव-समस्याओं के प्रति उसका दृष्टिकोण सहानुभूतिशील होगा। हमारी मौजूदा समाज-व्यवस्था युद्ध, दमन, आर्थिक अत्याचार, बेलगाम भाषण-स्वतन्त्रता और दकियानूसी नैतिक विचारों से परिपूर्ण है। ऐसी भावना वाले व्यक्ति समाज की इन खराबियों को सहन नहीं कर पायेंगे। स्वतन्त्रता की कमी विचारों की निर्भीकता की अनुपस्थिति और द्वेषपूर्ण भावनाओं की मूल है। इन्हीं पर वर्तमान समाज की सारी खामियाँ आधारित है। डा० वाट्सन बालकों के चरित्र की जन्मजात विशेषताओं को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। पर वे भी मानते हैं कि शरीर के किसी अंग को स्वेच्छा से चलाने न दिये जाने पर शिशु जो रोष प्रकट करता है, वह उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। यह स्वाभाविक रुचि ही उन्मुक्तता की कामना की आधार है। जिस व्यक्ति की ज़बान पर कानून या भाषण-स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्धों का ताला लगा हो, जिसका कला-प्रेम डाह को प्रेम से बेहतर समझने वाले नीतिशास्त्र रूपी पाले से जलकर भस्म हो गया हो, जिसकी लेखनी सेन्सर से सीमित हो, जिसकी बचपन की स्वच्छन्दता आचार-संहिता के भँवर में पड़कर ही मर गई हो तथा जिसका युवापन नृशंस रूढ़िवादिता के साँचे में ढाला गया हो—वह हर ओर से प्रतिबन्धित कर देने वाले विश्व के प्रति उस शिशु की भाँति रोष की अनुभूति करता है, जिसके हाथ-पाँवों को बाँधकर उसकी स्वच्छन्दता का हनन कर दिया जाता है। अपने क्रोध के फल-स्वरूप वह अपने स्वभाव तथा परिस्थितियों के अनुसार क्रान्तिकारी, सैनिकवादी या उत्पीड़क नीतिज्ञ बनकर विध्वंसक-वृत्ति अख्तियार कर लेता है। ऐसे मानव को बनाना जो बेहतर समाज के लिये कार्य करे भावात्मक मनोविज्ञान (इमोशनल साइकालाजी) की एक समस्या है। यह ऐसे मानव को जन्म देने की समस्या है, जो निर्भीक बुद्धिजीवी तथा प्रसन्नवदन हो। यह समस्या विज्ञान की शक्ति की सीमा के परे नहीं। फिलहाल केवल इच्छा की कमी है, शक्ति की नहीं।

५

घर तथा विद्यालय

लॉक और रूसो की रचनाओं के कारण बालकों को घर पर ही शिक्षा देने की विचारधारा को बल मिला। सिकन्दर, हन्नीबाल और जान स्टुअर्ट मिल की शिक्षा-दीक्षा इसी विचारधारा के अनुसार हुई। लेकिन यह विचार अब पुराना तथा प्रभावहीन हो गया है। अब केवल चन्द वैभव-सम्पन्न लोग ही इस प्रकार अपने बालकों की शिक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं। अस्तु, यह हमारे विचार का विषय नहीं हो सकता। लेकिन बालक की शिक्षा में घर तथा विद्यालय का स्थान और उसकी शिक्षा प्रारम्भ करने की उम्र अवश्य ही विचारणीय विषय हैं।

यूरोप के अधिकांश राज्यों मे वेतन-भोगी वर्ग के ६ से १४ वर्ष की उम्र के बालकों के लिये छात्रावास-हीन विद्यालयों की व्यवस्था है। जहां तक निर्धनवर्ग के बालकों का प्रश्न है, उनके कुछ योग्य बालक-बालिकाओं को छात्रवृत्ति देकर उस उम्र के बाद भी शिक्षा जारी रखने को प्रोत्साहित किया जाता है। खुशहाल परिवारों के बच्चे सामान्यतया इस उम्र के बाद भी अपना अध्ययन चालू रखते ही हैं। राज्य अर्थ-व्यवस्था तथा अन्य बातों के कारण सार्वजनीन शिक्षा (यूनीवर्सल एजूकेशन) की उच्चतम आयु के विषय में मतैक्य नहीं है। छात्रावासयुक्त या छात्रावासहीन विद्यालयों मे कौन उचित होगा, इस विषय में भी एक मत नहीं है। आम राय कुछ ऐसी प्रतीत होती है कि अच्छा घर छात्रावासयुक्त विद्यालय से बेहतर है। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी स्वीकार किया जाता है कि काफी घर इच्छित प्रकार के नहीं हैं। जहाँ तक मेरा अपना मत है, सभी पक्षों के तर्क बलशाली है। अतः समस्या काफी विषम है। इस प्रश्न के दो पहलू है: (१) शिक्षा किस उम्र में प्रारम्भ कर दी जाये; तथा (२) छात्रावासहीन या छात्रावासयुक्त विद्यालयों में कौन श्रेष्ठ होंगे। इन प्रश्नों पर क्रमवार विचार किया जाये।

शिक्षा किस उम्र मे प्रारम्भ कर दी जाये, इसका उत्तर मुख्यतया परिवार तथा उसकी भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इनकी तुलना मे परिवार की नैतिक मान्यतायें तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति का महत्त्व कम हो जाता है। देहात मे खेत मे रहने वाला बालक काफी उम्र तक घुमक्कड़बाजी, जानवरों की

रखवाली, घास सुखाई, कटाई, मँड़ाई, जोताई, आदि करने व देखने में ही अपना सारा समय चैन के साथ वितायेगा। इस प्रकार उसे लाभ ही होगा। आवश्यकता पड़ने पर ही उसकी कक्षागत पढ़ाई प्रारम्भ होनी चाहिये। लेकिन अपने सारे परिवार के साथ एक छोटे कमरे में अपना जीवन विताने वाले नगरवासी बालक की परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। उसके लिये शीघ्र ही विद्यालय मे जाना तथा वहाँ के उन्मुक्त वातावरण का रसास्वादन स्पृहणीय है। वहाँ उसे जी भर उछलने-कूदने व शोर मचाने तथा हमजोली बनाने की सुविधाये सुलभ होंगी। मुझे यदा-कदा ऐसे चिकित्सकों से मिलने का अवसर मिला है जो नर्सरी पाठशालाओं का भी विरोध करते हैं। वे समझते है कि वहाँ भी अन्य विद्यालयो की तरह बच्चों को पूर्व-निर्धारित पाठ पढाये जाते है। यह उनकी गलतफहमी है। वे यह नहीं जानते हैं कि अच्छी नर्सरी पाठशाला में केवल उतने ही पाठ दिये जाते है, जितने बालकों के दिल-बहलाव के लिये जरूरी हों। उनसे बालक थक नही जायेंगे। इसके विपरीत उनसे उनके परिवार के लोगों द्वारा उनके प्रति अति-व्यग्रता के कारण उनकी स्वच्छन्दता में किये जाने वाले हस्तक्षेपों से छुटकारा मिल जायेगा। अतः वे इन पाठों का स्वागत करेंगे।

कम आय वाले नगरवासियों के बच्चों की कुछ शारीरिक और मानसिक आवश्यकतायें ऐसी होती है, जो सामान्यतया घर पर पूरी नहीं हो सकती है। प्रकाश और उन्मुक्त वायु उनकी प्रथम आवश्यकता है। मार्गरेट मैकमिलन ने देखा कि उनकी नर्सरी पाठशाला में काफी बच्चे सूखा रोग (रिकेट्स) से ग्रसित थे। लेकिन पाठशाला की खुली हवा में कुछ समय तक रहने-भर से उनमें से अधिकाश स्वस्थ हो गये। दूसरी आवश्यकता उचित भोजन की है। सिद्धान्त रूप में यह अधिक व्ययसाध्य नही है। इसका सुगमता से प्रबन्ध किया जा सकता है। लेकिन असलियत यह है कि ज्ञान की कमी तथा भोजन के विषय मे रूढ़िवादिता के कारण यह सम्भव नहीं होता है। तीसरी जरूरत ऐसे स्थान की है, जहाँ बच्चे जी भर कर खेल-कूद कर सकें। निर्धन लोगों के बालक गलियों में ऐसा करके अपनी तमन्ना पूरी करते है। अन्य बालक इससे भी वंचित रह जाते है। फिर गलियो को खेल का अच्छा स्थान भी नहीं कहा जा सकता। बालकों की चौथी आवश्यकता शोर-गुल मचाने की स्वतन्त्रता है। बालकों को शोर करने से प्रतिबन्धित करना अत्याचार है। परन्तु साथ-ही-साथ इससे भी इन्कार नही किया जा सकता है कि यदि बालकों को निर्बाध रूप से शोर करने दिया जाये तो अधिकांश घरों मे सयाने लोगों का रहना ही असम्भव हो जायेगा। पाँचवी आवश्यकता समान उम्र के बालको का साथ है। द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर इस भावना की जागृति होती है। यह भावना उत्तरोत्तर अधिक बलवती होती जाती है। छठी आवश्यकता माता-पिता या अभिभावकों की व्यग्रता से छुटकारा पाने की है। खुशहाल घरों

के बालकों के लिये यह समस्या निर्धन घरों के बालकों से अधिक गम्भीर है; क्योंकि निर्धन बालको की मातायें अपने कार्यों में ही इतनी अधिक व्यस्त रहती हैं कि उनको मध्यवर्गीय परिवारो की माताओं की तरह हर समय अपने बालकों के लिये व्यग्र रहने के लिये फुर्सत ही नही रहती। यह व्यग्रता चाहे कितनी ही समझदारी तथा सहानुभूतिपूर्ण क्यो न हो, बालकों को नुकसान पहुँचाये बगैर नहीं रहती। सातवी आवश्यकता एक ऐसे वातावरण की है, जिसमे बालकों को आमोद-प्रमोद के सभी साधनों के साथ-ही-साथ उनकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था हो। वहाँ पत्थर की सीढ़ियाँ, नुकीले कोने, कीमती तथा नाजुक चीजें, आदि न हों। छठे वर्ष की आयु तक इन आवश्यकताओं से वंचित रहने वाले बालक अस्वस्थ, अपरिश्रमी और अधीर होते है।

शिशु के लालन-पालन की समस्या के प्रति वियाना-नगरपालिका के अपवाद को छोड़कर अन्य सभी राज्य अभी तक उपेक्षाशील है। यह प्रमुखतया भवन-निर्माण से सम्बन्धित समस्या है। नगरों की निर्धन बस्तियों में मकान इस प्रकार से बनाये जावें कि आँगन के तीन ओर परिवारों के रहने के लिये कमरे हों तथा दक्षिण दिशा की ओर पर्याप्त मात्रा में सूरज की रोशनी आने देने के लिये खुला छोड़ दिया जावे। बीच का स्थान-आँगन-बालकों के लिये खुला छोड़ दिया जाये। इसमे वे अपने अभिभावकों के निरीक्षण में खेलें और खाये। केवल सोने के लिये ही घरों में जाने के लिए उन्हे बाध्य किया जाये। इस प्रकार जहाँ एक ओर माताओं का काम बहुत हल्का हो जायेगा, वहाँ दूसरी ओर बालक भी लाभान्वित होंगे। लेकिन वर्तमान परिस्थितियो में प्रत्येक परिवार का अपना अलग व्यक्तित्व इस काम में बाधक है। विशेषतया इंगलैंड में भवन-निर्माण कला इस प्रवृत्ति से अति प्रभावित है। इसलिये यहाँ के बारे में यह उक्ति और भी अधिक सही है।

मेरा खयाल है कि यह मान लिया जा सकता है कि वैभव-सम्पन्न लोग अपने बच्चों को खेल के इन सामुदायिक मैदानों का लाभ उठाने नहीं देंगे। लेकिन धनी बालकों के लिये भी दिन का अधिकांश उन्मुक्त वातावरण में बिताना उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना निर्धन बालकों के लिए। नगर का कोई भी घर, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, बालक के स्वस्थ मानसिक तथा शारीरिक विकास हेतु सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकता है। निस्सन्देह ऊँची फीस देने से उच्चवर्गीय सम्पर्क सुरक्षित बनाया जा सकता है। लेकिन उसके लिये भी किसी-न-किसी प्रकार के शिशु-विद्यालय (बालवाड़ी) आवश्यक हो ही जाते हैं।

अभी तक हम बालक के विद्यालय जाने से पूर्व के जीवन पर विचार करते रहे हैं। बालकों की बढ़ती आयु के साथ छात्रावासयुक्त विद्यालयो का पक्ष भारी होता जाता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि देहातों में छात्रावासयुक्त विद्यालय

काफी अच्छे वातावरण में हो सकते है। नगरों में फिर भी प्राय: छात्रावास-हीन विद्यालय ही होने चाहिये। छात्रावासयुक्त विद्यालयों के पक्ष में दूसरा तर्क यह है कि अधिकांश घरों में बालकों पर तन्त्रिका-तनाव बढ़ने की सम्भावना हो सकती है। घरों मे तन्त्रिका-तनाव पैदा करने वाली कई परिस्थितियाँ हो सकती है, उदाहरणार्थ —माता-पिता का झगड़ालूपन, माँ का बच्चों के प्रति अत्यधिक व्यग्र होना, पिता का निर्दयी होना, घर पर किसी ऐसे भाई या बहिन का होना जिसके प्रति अन्य की तुलना में अधिक स्नेह प्रदर्शित किया जाता है (जो अन्य भाई बहिनों के लिये ईर्ष्या का विषय हो सकता है), माता-पिता में से किसी एक का अति प्यार, आदि। इस प्रकार येनकेन प्रकारेण घर का वातावरण प्राय: अति भावुकतापूर्ण होता है। बालकों के लिये ऐसे शान्तिमय जीवन की आवश्यकता है, जिसमें आमोद-प्रमोद के सभी साधन प्रस्तुत तो हों, लेकिन आवेगों की उपस्थिति न हो। इन सब तर्कों के बावजूद मेरा विचार है कि यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कुछ हद तक समझदारीपूर्ण वात्सल्य-प्रेम उपयोगी भी है। इससे बालक को सुरक्षा तथा गौरवमय होने की भावना की प्राप्ति होती है। इन दो विरोधी विचारधाराओं के बीच समन्वय स्थापित करना सरल काम नही है।

घर अथवा विद्यालय की प्रतियोगिता पर अमूर्त रूप में विचार करना कठिन है। यदि आदर्श घरों की तुलना वास्तविक विद्यालयों से की जाये तो पहले का पलड़ा भारी पड़ता है। इसके विपरीत वास्तविक घरों की तुलना आदर्श विद्यालयों से की जाये तो दूसरा पक्ष भारी होता है। मुझे इस बात में कोई संदेह नही है कि आदर्श विद्यालय आदर्श घरों, और विशेषतया नगरों के आदर्श घरों से श्रेष्ठ हैं। क्योंकि उनमें रोशनी, स्वच्छ वायु, उछलने-कूदने की स्वच्छन्दता तथा समवयस्क बालकों का साथ काफी रहता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वास्तविक विद्यालय भी वास्तविक घरों से अच्छे होते है। अधिकांश माता-पिता अपने बच्चों से स्नेह करते है और यही उनके द्वारा की जाने वाली हानियों की सम्भावना को बहुत कम कर देता है। लेकिन शिक्षकों का अपने शिक्षार्थियों से स्नेह नहीं होता है। अधिक-से-अधिक वे समाज-सेवा की भावना से अनुप्रेरित हो सकते है। यह भावना केवल बालकों के प्रति न होकर सारे समाज के प्रति होती है। बहुधा वे राजनीतिज्ञ होते है तथा व्यक्तिगत लाभ हेतु विवादों में रत रहते है। वर्तमान परिस्थिति में घर का बालक के मानसिक विकास पर बड़ा असर पड़ता है। हो सकता है कि यह असर सदा अच्छा न रहता हो; तिस पर भी यदि बालक को राज्य की देख-रेख में छोड़ा जाय तो उसका असर घर के असर से बदतर ही होगा। घर बालक को स्नेह तथा एक ऐसे समाज की अनुभूति कराता है, जिसका वह महत्त्वपूर्ण सदस्य होता है। इसके अतिरिक्त उसमें रहकर ही उसे सभी प्रकार के लोगों के सम्बन्धों तथा वयस्क जीवन के विविध कार्यों का अनुभव

अनायास ही हो जाता है। इस प्रकार घर विद्यालय के बनावटी सादेपन को सही कर लेता है।

परिवार का दूसरा लाभ यह है कि उसमें व्यक्तियों की विविधता सुरक्षित रहती है। सभी व्यक्तियों का एक ही प्रकार का होना प्रशासक तथा सांख्यिकीविद् (स्टैटिस्टिशियन) के लिये सुविधाजनक हो सकता है लेकिन वह स्थिति बड़ी नीरस होगी। इस प्रकार एक अति प्रगतिहीन समाज की स्थापना हो जायेगी। वर्तमान स्थिति मे व्यक्तियों में जो पारस्परिक भेद प्रतिलक्षित होते है, उनका मूल परिवार ही है। निस्सन्देह व्यक्तियों मे अधिक अन्तर का होना सामाजिक एकता के लिए घातक है। पर यह भी सही है कि उच्चकोटि की सहकारिता हेतु व्यक्तियो मे भेद होना जरूरी है। किसी भी वाद्य-साज के लिये भिन्न गुणों तथा कुछ हद तक भिन्न रुचियों के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। यदि सभी लोग तुरही बजाना चाहे तो वाद्य-साज संगीत सम्भव नही होगा। उसी प्रकार सामाजिक सहयोग के लिये विभिन्न रुचियो और गुणों के लोगों की आवश्यकता होती है। यदि सभी बालकों को उनके स्वजनो के प्रभाव से दूर रख कर सबको एक ही प्रकार के वातावरण में रखा गया तो यह विविधता सम्भव नही होगी। मेरे विचार से यह प्लेटो के इस मत की कि बच्चों के पालन-पोषण की पूरी जिम्मेदारी राज्य ले, सबसे बडी कमी है।

विश्व मे इस समय परिवार के अतिरिक्त दो संस्थायें—राज्य तथा मठ—ऐसी हैं, जिनका बालक की शिक्षा से सम्बन्ध है। इंगलैंड में श्रमजीवियो के दो-तिहाई बालकों की शिक्षा-दीक्षा राज्य के जिम्मे है। शेष की शिक्षा विभिन्न ऐंग्लीकन और रोमन कैथोलिकों-सरीखी धार्मिक संस्थाओं के द्वारा होती है। वैभव-सम्पन्न लोगो के बच्चों की शिक्षा प्रमुखतया ऐंग्लीकन वातावरण में होती है। अधिकतर अच्छे कहे जाने वाले बालिका विद्यालय ऐंग्लो कैथोलिकों के हैं। इस प्रकार उच्च तथा मध्यमवर्ग की शिक्षा पर धर्म का प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

मठ और राज्य का आज कुछ ऐसा स्वरूप है, जिसका शिक्षा पर प्रभाव कुछ अच्छा नही रहता। मैं इन कमियों पर अगले अध्यायों मे विस्तार के साथ विचार करूँगा। यहाँ पर मैं इतना ही कह देना चाहूँगा कि मठ और राज्य व्यक्ति को अपनी कुछ ऐसी धारणाओं में भी विश्वास करने को कहते हैं, जिन पर अन्यथा कोई भी समझदार व्यक्ति विश्वास नही कर सकता। इसके साथ-ही-साथ वे ऐसी नैतिकता की शिक्षा भी देते है, जिनमें केवल वही लोग विश्वास कर सकते है, जिनकी दया-भावना रूढ़िवादिता के कारण समाप्त हो गई हो। यहाँ उन अविश्वसनीय धारणाओं के चंद उदाहरण दिये जा रहे है: रोमन कैथोलिकों के मतानुसार पुजारी (पादरी) रोटी के टुकड़े से लेटिन में बात करके उसे ईसा-मसीह के रूप में परिवर्तित कर सकता है; ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के अनुसार

साम्राज्य शासित राष्ट्रों के लिये वरदान है। ऐसी धारणाओं मे नवयुवकों की आस्था बनाये रखने के लिये उन्हें बुद्धू बनाये रखना तथा अनिश्चित विषयों में अपनी तर्कना-शक्ति का प्रयोग न करने देना आवश्यक है। अत्याचारी नैतिकता के भी नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं: रोमन कैथोलिक चर्च एक ऐसा नियम चाहता है, जिसके अनुसार किसी स्त्री के गर्मी रोग से पीड़ित पुरुष के द्वारा गर्भ धारण कर लेने पर उसे कृत्रिम साधनों से गर्भपात न करने दिया जाये। इस प्रकार उसे गर्मी रोग से प्रभावित बच्चे को पैदा करने के लिए बाध्य कर दिया जाये; ताकि (यह मानते हुए कि उसके मां-बाप कैथोलिक नहीं थे) वह शिशु इस दुनिया में अपना क्षणिक जीवन सताप मे बिताये तथा उसका पारलौकिक जीवन भी सदा नरक में कटे। ब्रिटिश राज्य इसे हर अंग्रेज का कर्तव्य समझता है कि वह वैस्ट मिन्स्टर में रहने वाले व्यक्तियों के एक छोटे समूह के इंगित पर गैर-जाति के लोगों को भून डालने के लिये तैयार रहे। यह उदाहरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि मठ तथा राज्य बौद्धिकता तथा सद्गुणों के घोर शत्रु हैं।

अस्तु, जब तक यह मालूम नहीं हो जाता है कि परिवार का स्थान किसे मिलेगा, शिक्षा में परिवार के प्रभाव को सीमित करना खतरे से खाली नहीं है। जिस दिन एक धर्म-निरपेक्ष विश्व-राज्य की स्थापना हो जायेगी, उस दिन निस्सदेह परिवार नवयुवक के लिये कम उपयोगी रह जायेगा। वह माता-पिता के प्रभाव के बिना पहले से अधिक सुखी तथा समझदार होगा। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में, रूस के अपवाद को छोडकर, हर प्रकार की प्रगति के लिये राज्य और मठ के विरोध पर विजय पाना आवश्यक हो जाता है। इसलिये मनुष्य के बौद्धिक जीवन पर इन दोनों के प्रभाव को बढा देने वाले हर परिवर्तन व परिस्थिति को शंका तथा भय की दृष्टि से देखा जाना चाहिये।

बच्चों को उनके मां-बाप के पास से हटाकर पूर्णतया राज्य द्वारा पाला-पोसा जाय या नहीं, इस प्रश्न पर केवल बालकों के ही नहीं अपितु माता-पिता के दृष्टिकोण से भी विचार किया जाना चाहिये। वात्सल्य की भावना का स्त्री के व्यवहार पर गहरा असर तो पड़ता ही है लेकिन पुरुष भी इस असर से परे नहीं है। हमारे पास अभी तक वह सूचना नहीं है, जिसके आधार पर हम मालूम कर सकें कि इस भावना की अनुपस्थिति की हालत में पुरुष और नारी की क्या अवस्था होगी, यह जानने के लिए फिलहाल कोई उपाय नहीं है। लेकिन इतनी कल्पना हम कर ही सकते हैं कि ऐसी स्थिति मे वे बहुत अधिक परिवर्तित हो जायेगे। हम ऐसी सम्भावना की प्रत्याशा कर सकते है कि ऐसी अवस्था में स्त्रियाँ बच्चों को जन्म देने के लिये उत्सुक नहीं रहेगी तथा यह कार्य राज्य-सेवा का एक अंग व व्यवसाय बन जायेगा। यह भी आशा की जा सकती है कि फिर पुरुष

और नारी के सम्बन्ध क्षणिक हो जायेंगे और प्रगाढ दाम्पत्य-प्रेम कल्पनामात्र की वस्तु रह जायेगी। वृद्धावस्था के वढते प्रभाव के वावजूद पुरुप कठोर परिश्रम करता जाता है, केवल इसीलिए कि उसकी मृत्यु के पश्चात् भी उसका परिवार सुखी रह सके। लेकिन वच्चों की पूरी जिम्मेदारी राज्य द्वारा लिये जाने की अवस्था में पुरुष को कठोर श्रम करने की कोई आवश्यकता महसूस नहीं होगी। जीवन वीमा हेतु दी जाने वाली वडी किस्तों से भी नहीं सिद्ध होता है कि पुरुप को अपनी इहलीला समाप्ति के पश्चात् भी अपने परिवार के सुख-दुख का विचार रहता है। यह सन्देहास्पद है कि परिवार-विहीन विश्व में पुरुप अपने मरणोपरान्त आने वाली समस्याओ के वावत अपने मन मे विचार भी लायेगा अथवा नही। इसकी पूरी सम्भावना है कि परिवार-विहीन मनुष्य-समाज की अवस्था उस मधुमक्खी के झुण्ड के समान हो जायेगी जो अपनी रानी की अनुपस्थिति में निष्क्रिय हो जाता है। यह सब केवल सम्भावनामात्र है। केवल अनुभव के आधार पर ही कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है और फिलहाल उसकी कमी है।

इसके विपक्ष मे भी वहुत कुछ कहा जा सकता है। संग्रह करने की प्रवृत्ति खतरनाक है। माता-पिता द्वारा अपने वच्चों के लिए सम्पत्ति जुटाना भी इसका अपवाद नही है। माता-पिता का अपने वच्चों के प्रति स्नेह व्यक्तिगत तथा प्रतिद्वन्द्वात्मक होता है।

कई लोग सन्तानोत्पत्ति से पहले जन-सेवा की भावना से अनुप्रेरित रहते हैं। लेकिन पितृत्व प्राप्त करते ही वे अपनी सेवा-भावना को भुलाकर अपने परिवार के स्वार्थ में रत हो जाते है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की पिपासा काफी सीमा तक परिवार पर आधारित है। अस्त, अफलातून (प्लेटो) से लेकर आज के साम्यवादियों तक की यह धारणा ठीक ही है कि वर्ग-विहीन समाज-व्यवस्था के लिए वच्चो को राज्य की सम्पत्ति करार देना आवश्यक है। यह सम्भव है कि वात्सल्य-भावना में जो कुछ ग्रहणीय है, उसे किसी विद्यालय-विशेष के समस्त वालकों के लिए सुलभ किया जाये। यह भी सम्भव हो सकता है कि महान् हस्तियाँ समस्त शिशु-जगत् को ही इससे लाभान्वित कर सकें। यदि यह हो सके तो यह महान् नैतिक प्रगति का द्योतक होगा। मेरा विश्वास है कि वात्सल्य परोपकारी भावना का मुख्य श्रोत है। कई नि.सन्तान नारियो में दिखला दिया है कि इस भावना को सर्वग्राही बनाने से कितना लाभ हो सकता है। शारीरिक पितृत्व की भावना ही सम्पत्ति-संग्रह की कामना को जन्म देती है। यदि वात्सल्यता को इस भावना से अलग करना सम्भव हो सके तो विश्व की काफी कटुता अनायास ही समाप्त हो जायेगी तथा मनुष्य मानवमात्र के कल्याण की कामना करने लगेगा। यह सब कल्पनामात्र है; तिस पर भी यह विचार इतना

महत्त्वपूर्ण है ही कि हम इन्हें विचारणीय समझें।

अन्ततः आधारभूत प्रश्नों को उठाये बिना भी घर तथा विद्यालय की प्रतियोगिता का प्रश्न केवल सहज समझ के आधार पर हल किया जा सकता है। जिस क्षण हम इन मूलभूत विवादों में पड़ते हैं, हमें मानव-मनोविज्ञान के अज्ञान की कमी महसूस होने लगती है। हम यह नहीं जानते हैं कि हमारी मनोभावनाओं में मूल-प्रवृत्तियों का समावेश कितना है। हम यह भी नहीं बतला सकते हैं कि यदि हमारी वर्तमान भावनायें बिलकुल ही दूसरे प्रकार की होती तो उनमें कितनी क्रियाशीलता होती। हमें आशा करनी चाहिए कि इस से हमें कुछ समय बाद ऐसी सूचना मिल सकेगी जो इन प्रश्नों के सुलझाने में सहायक हो। फिलहाल वैज्ञानिक दृष्टिकोण का तकाजा यही होगा कि हम संदिग्धता का रुख ही अख्तियार करें।

६

कुलीनतन्त्री, लोकतन्त्री और प्रशासकतन्त्री

राज्य के प्रारम्भ से ही परिवार तथा राज्य में परस्पर विरोध रहा है। केवल राज-परिवार में ही दोनों का भावनात्मक अनुबन्धन सम्भव रहा है। फलस्वरूप एक ऐसे विचार का जन्म हुआ है, जिसके अनुसार राज्य एक बड़े परिवार के सदृश है और राजा उसका प्रधान है। चीन, जापान, मेक्सिको और पीरू में यह विचार प्रचलित था। इन देशों के अतिरिक्त जहाँ भी राजा को देव-तुल्य समझा गया, यह विचार कुछ हद तक प्रचलित रहा ही। इस प्रकार सुदृढ राज्य की स्थापना हो सकी। राजा के प्रति धार्मिक आस्था तथा परिवार के प्रधान की भाँति आदर-भावना ने प्रजा को राजभक्त बनाया। राजा-विहीन राज्य यूनानियों तथा रोमन लोगों (विशेषतया रोमन-जाति) की देन है। बड़े ब्रूटस द्वारा जनहित मे अपने पुत्रो का वलिदान करने का आख्यान जन-सेवा को सबसे बड़ा धर्म समझने के आदर्श का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पूर्वी देशों मे यह धर्म नया ही है। वहाँ जितनी भी मात्रा में वह पाया जाता है, सब यूरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप है। कन्फ्यूशियस ने पितृ-भक्ति को कानून से अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार अपराधी पिता को भी न्यायालय के हवाले कर देने वाला पुत्र भर्त्सना के योग्य है। जापान मे उस प्राचीन विचार के अनुसार राष्ट्रीयता अभी भी केवल राष्ट्र-परिवार के दैवी-प्रधान (राजा) के प्रति भक्ति-भाव रखने का दूसरा नाम है। जिस दिन आधुनिक तर्कशास्त्र के जोरदार धक्के से यह भावना-रूपी गढ़ ढह जायेगा, उस दिन जापान की इस राजनीतिक विचारधारा का शेष रह जाना सन्देहास्पद है। यह सम्भावना भी हो सकती है कि इस शासनतंत्र का स्थान रूस के ढाँचे का शासनतंत्र ले ले। चीन में प्राचीन पारिवारिक भावनाओं के स्थान पर आधुनिक राष्ट्रीयता के विचार की स्थापना के प्रयास हो रहे है। कुओमिनताग दल इस हेतु कार्य कर रहा है। इसी के फलस्वरूप वहाँ सनयात-सेन को पूज्य समझा जा रहा है। भारत में अंग्रेजो के प्रति घृणा की बुनियाद पर आधुनिक राष्ट्रीयवाद के भवन का निर्माण हो रहा है। लेकिन इन देशो में रोम की तरह परम्पराओं की कमी के कारण राष्ट्रीयवाद अभी भी एक अभ्यागत की तरह

विदेशी तत्त्व के सदृश है।

आधुनिक युग में रोमन-परम्पराओं का एक अच्छा उदाहरण अंग्रेज उच्च-वर्ग ने प्रस्तुत किया है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के समय तक अन्य देशों मे राजा ही राज्य का प्रतीक था। इसके विपरीत इंगलैंड में चॉर्ल्स प्रथम की हत्या के पश्चात् राज्य और राजा स्पष्टतः दो पृथक इकाइयाँ समझी जाने लगी। सन् १६८८ ई० से १८३२ ई० तक इंगलैंड एक कुलीनतंत्री राज्य की तरह रहा। उस समय के शासक-परिवारों में जनता की भावनाओं को समझने की वैसी ही सहज बुद्धि थी, जैसी रोम के अभ्युत्थान-काल में वहाँ के शासकों में हुआ करती थी। लेकिन इससे मेरा तात्पर्य यह बिलकुल नही कि वे अपने स्वार्थों की पूर्णतया उपेक्षा करते थे। गणतन्त्री गुणों के अवतार छोटे ब्रूटस ने एक नगरपालिका को ६० प्रतिशत सूद की दर पर धन उधार दिया और जब वह नगरपालिका धन चुकाने में असमर्थ रही तो उसने उस पर अधिकार करने के लिये एक सेना किराये पर ली। अट्ठारहवीं सदी के अंग्रेजी उच्च परिवारों ने पार्लियामेंट के दोनों सदनों में अपने बहुमत का प्रयोग 'इन्क्लोज़र ऐक्टों' को पारित करने व इस प्रकार जन-साधारण को उनके अधिकारों से वंचित करने के लिये किया। दोनों उदाहरणों में शासकवर्ग ने राज्य को इस सीमा तक अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान समझा जो आज के विस्तृत लोकतन्त्री देशों में किसी भी व्यक्ति के लिये सपने में भी सम्भव नहीं हो सकता है।

हर प्रकार की समाज-व्यवस्था की अपने अनुरूप एक शिक्षण-पद्धति होती है। पब्लिक स्कूल ब्रिटिश कुलीनतन्त्र के अंग थे। उनमें से ईटन सर्वप्रमुख था। हैरो, विन्चेस्टर और रग्बी का क्रम उसके बाद आता है। इन विद्यालयों के कारण ही विधान में महान् परिवर्तनों के बावजूद राजनीतिक सत्ताधारी उच्च परिवारों के विचार उन्नीसवीं सदी में भी अट्ठारहवीं सदी के से रहे। अंग्रेज-परिवारों द्वारा यह विद्यालय आज भी हमारी परम्पराओं की सभी अच्छाइयों के प्रतीक माने जाते है। अस्तु, हमारे जन-जीवन में उनके योगदान के विषय मे विचार करना आवश्यक है।

प्रारम्भिक (प्रीपेरेटरी) और पब्लिक-स्कूलों का मनोवैज्ञानिक महत्त्व प्रमुख-तया यह है कि बालक अल्पावस्था से ही घर से और इस प्रकार नारी के असर से दूर रहे। विद्यालय में अपने से बड़े बालकों के दुर्व्यवहार तथा अपने समवयस्कों की वैमनस्यता से बचने का उसके पास कोई रास्ता न रहे। दया का व्यवहार तथा माँ का दुलार पाने की उसकी इच्छा मन में ही दबी रहे। इसके साथ ही बदले की जिन भावनाओं को वह व्यवहार-रूप में न ला सके, उसे मन-ही-मन पी जाने के लिये बाध्य होना पड़ा। शुरू मे उसे बहुत दुखी होना पड़ सकता है। लेकिन यदि वह असाधारण रूप से सवेदनशील तथा बुद्धिमान न हो तो शनैः-शनैः इन

यातनाओं का अभ्यस्त हो जाता है। अपने विद्यालय-जीवन में वह अन्य सभी गुणों के ऊपर शारीरिक शक्ति और प्रसिद्धि के लिये प्रयास करता रहता है। खेलों में श्रेष्ठता दिखलाने पर उसको इतना अधिक सम्मान दिया जाता है, जितना उसे अपने भावी जीवन में केवल जनसाधारण से बहुत ही अधिक ख्याति प्राप्त होने पर ही मिल सकता है। विद्यालय के अन्तिम वर्षों मे उसे अपने छोटों के द्वारा इतना अधिक सम्मानित किया जाता है तथा वे इस कदर उसके शासन में रहते हैं कि वह अपनी शुरू की सभी व्यथाओं को भूल जाता है। अधेड़ावस्था में पहुँचकर जब उसे अपने विगत जीवन पर दृष्टिक्षेप करने का ध्यान होता है तो वह समझता है कि उसका विद्यालय-जीवन का समय जीवन का सबसे अधिक सुखी काल रहा है। विद्यालय-जीवन मे उसे थोडे समय तक शासन-सत्ता का उपयोग करने का जो मौका मिलता है तथा वहाँ उसके महत्त्वहीन गुणों के लिये उसकी जो प्रशंसा होती है, उन्ही के आधार पर वह उस जीवन को ऐसा समझता है। स्वभावतया वह भावी जीवन मे भी सुख के ऐसे ही अवसरो की ताक मे रहता है। वह ऐसे लोगों की कामना करता है, जिनके ऊपर वह शासन कर सके तथा जो उसे देवतुल्य समझकर उसकी पूजा कर सकें। अतः वह असभ्य (या केवल उसके दृष्टिकोण में असभ्य) लोगों के बीच चला जाता है। वहाँ वह साम्राज्य-निर्माता, सभ्यता व सस्कृति का प्रकाश-स्तम्भ और उन अज्ञान-अन्धकारमय स्थलों मे पाश्चात्य ज्ञान की ज्योति जलाने वाला कहलाता है। यदि 'आदिवासी' उसका विद्यालय मे उसके छोटे साथियो की भाँति आदर करते है तो वह मग्न रहता है। वह दयावान, गौरवशील, निष्पक्ष और परिश्रमशील रहता है। वह वहाँ के अकेलेपन तथा असुविधाओं की चिन्ता नही करता। अपने विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में सहे अत्याचारो की तुलना में वह उन्हें नगण्य समझता है।

यदि आदिवासी उसकी प्रशसा करने मे असफल रहते हैं तो वह अपने व्यक्तित्व का अन्धकारमय पहलू प्रदर्शित करने लगता है। जगली लोगो के मध्य जहाँ उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद रहती है, अपने साहस तथा सहनशीलता के कारण उसे कार्य करने मे कोई कठिनाई नही रहती। परन्तु जब उसे पूर्वीय देशो की तरह किसी विदेशी उच्च सभ्यता के सम्पर्क में आना पड़ता है तो उस समय उसकी दयनीय अवस्था हो जाती है। मैंने पूर्वी देशों मे काम करने वाले अपने उन देशवासियों को देखा है जो अपने-आपको पब्लिक स्कूल की उत्कृष्ट कृति मानते थे। जब उन्हें विद्वान पूर्वीय लोगों का सामना करना पड़ता था तो उस समय उनकी अवस्था को देखकर मुझे स्वयं अपने अंग्रेज होने पर शर्म महसूस होती थी। मेरे लाल चमड़ी वाले पियक्कड़ काम के समय को शोषण तथा विश्राम के समय को खेल तथा ब्रिज मे बिताने वाले तथा अपनी पाश्चात्य सस्कृति से निपट अनभिज्ञ देशवासी यह भी

नही जानते थे कि पूर्वीय संस्कृति नाम की भी कोई चिड़िया है। उन्हें यदा-कदा पूरब के ऐसे लोगों के सम्पर्क में आना पड़ता था जो अपनी सभ्यता व संस्कृति के ही प्रकाण्ड पण्डित नहीं थे, अपितु पाश्चात्य सभ्यता के विषय में भी इन पब्लिक स्कूल की अधिकांश कृतियो से भी अधिक जानते थे। उनसे बात करने में ये अज्ञानी तथा वेहूदे लोग अपनी सैनिक विजयों के दर्प-प्रदर्शन तथा गोला-बारूद से लदे जहाजों के द्वारा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने मे ही अपनी प्रशंसा समझते थे। इस घृणित नृशंसता का जापानियो ने हमारे ही ढग का उत्तर दिया है। पूरब के अन्य देश भी उन्ही का अनुसरण कर रहे हैं। फलतः साम्राज्यवाद के एक आधार के रूप मे पब्लिक स्कूल असफल हो चुके है।

इस असफलता के बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक कारण है। इनमे से बौद्धिक कारण स्पष्ट है। पहले इन्ही पर विचार किया जाये। पब्लिक स्कूल की भावना बौद्धिकता और विशेपतया वैज्ञानिक बौद्धिकता के प्रति घृणा की है। अध्यापक प्रमुखतया अपने खेल-कूद की योग्यताओं के लिये चुने जाते हैं। उनके धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक आचरण में कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिये। यही बुद्धिजीवियो के लिये सम्भव नही होता है। उन्हें बालकों को हर समय इस कदर व्यस्त रखने में निपुण होना चाहिये कि उन्हें काम-वासना की उपस्थिति महसूस ही न हो। फलतः उन्हें चिन्तन के लिये कोई समय न मिल सके। चतुर बालको में बौद्धिक स्वतन्त्रता के रहे-सहे चिह्नों को मिटा-देना भी उनका कर्तव्य है। अन्ततः उन्हें ऐसे बालक को गढ़ना है, जो सद्व्यवहार का प्रचण्ड पुजारी हो। उसे अपने शेप जीवन में कोई अन्य महत्त्वपूर्ण बात सीखने का विचार सपने में भी न आ सके। यह हमारे पब्लिक स्कूलों की चन्द त्रुटियां हैं। इन त्रुटियां का मूल यह है कि इन विद्यालयों को ऐसी समाज-व्यवस्था के प्रचार का साधन बनाया गया है, जिसे तर्कना के आधार पर कभी अच्छा नही कहा जा सकता।

प्रारम्भिक (प्रीपेरेटरी) तथा पब्लिक स्कूलों में बालक को ऐसे वातावरण में रखा जाता है, जिसमें नारी पूर्णतः अनुपस्थित रहती है। उसे रूढ़िवादी आचार-संहिता का पालन करना पड़ता है। यही दो बातें इन विद्यालयों के मनोवैज्ञानिक दोषों की मूल है। इन विद्यालयो में छोटे बालक को स्वभावतया ही अपनी माता, बहनों और परिचारिकाओ तक की याद रह-रहकर आती रहती है। इस कारण माता उसकी गुप्त सुकोमल भावनाओं तथा आराधना का विषय बन जाती है। इन विद्यालयों की नारी से घृणा करने वाली आचार-संहिता के कारण यह भावना और अधिक गहन हो जाती है। तरुणाई आने पर उनमें हस्त-मैथुन तथा स्व-लिंगीय मैथुन की प्रवृत्ति जागृत होती है। इसके साथ-ही-साथ वे यह भी समझने लगते है कि उनका ऐसा करना पापाचार है। कामुकता को उनके शिक्षा-अधिकारियों द्वारा हेय निगाहों से देखा जाता है। अतः उन्हे गुप्त रूप से अपनी

वासना-तृप्ति करनी पड़ती है। यह स्थिति अधिकांश शिक्षार्थियों में नारी के प्रति मातृत्वमयी भावना को जन्म दे देती है। फिर उनके प्रति शारीरिक आकर्षण उनमें लेशमात्र भी नही रहता। यह भावना बहुधा सुखी दाम्पत्य-जीवन को असम्भव बना लेती है। जिस स्त्री के साथ सम्भोग सम्भव समझा जाता है, उससे उन्हें नफरत होने लगती है। इस मानसिक द्वन्द्व के दुख से वे निर्दयी हो जाते है। इस दुख से बचने का एकमात्र उपाय शासनाधिकार ही समझा जाता है। इस प्रकार साम्राज्य-प्रसारवादी लिप्सा को काम-वासना की अतृप्त मनोग्रन्थियों का बल भी प्राप्त हो जाता है।

अंग्रेजी पब्लिक स्कूल के अवगुणो का उच्चवर्ग की शिक्षा-व्यवस्था में होना कुछ हद तक स्वाभाविक भी है। जिस राष्ट्र मे कोई वर्ग सामाजिक श्रेष्ठता को उत्तराधिकार में प्राप्त करने वाला हो वहाँ की शिक्षा में इन दोषो के होने की सम्भावना रहेगी ही। ऐसा वर्ग सदा अपनी श्रेष्ठता व शासनाधिकार को बनाये रखने की चेष्टा करेगा। इसलिये वह बौद्धिकता तथा समझदारी को प्रोत्साहित करने की उतनी कोशिश नही करेगा, जितनी इच्छा-शक्ति को बलवती बनाने की। अस्तु, उसकी शिक्षा-दीक्षा में तपस्या के द्वारा इच्छा-शक्ति को सुदृढ़ बनाने वाले सभी तत्त्व सम्मिलित होगे। भूतकाल में उच्च वशो की वैभव-सम्पन्नता ने उनमे एय्याशी तथा नाजुकपने को बढावा दिया है। इससे उनमे उदारवादी विचार-धारा के सम्मुख झुकने की प्रवृत्ति पैदा हुई है। इन सम्भावित खतरों से सुरक्षा के बिना कोई भी उच्च वश अपने अस्तित्व को बनाये नही रख सकता है। अस्तु, अपने-आपको बनाये रखने के प्रयास में रत अंग्रेजी उच्च वंशो के पब्लिक स्कूलों में वर्तमान गुण-दोषों का बने रहना अवश्यम्भावी है। सत्ताधारी उच्च वश अब भूतकाल की बात हो गये हैं। इंगलैण्ड मे इनका आज भी बने रहना उतना ही आश्चर्योत्पादक है, जितनी कगारू की शिशुधानी। ईटन आज अपने पुराने गौरव को खो चुका है। इसकी वजह सामाजिक ढाँचे में यह बदलाव है। उसकी अवस्था में किसी किस्म की कमी उसकी प्रतिष्ठा में ह्रास के लिए जिम्मेदार नही है। मनुष्य को वर्तमान विश्व की मान्यताओं तथा आवश्यकताओ के अनुरूप अपने-आपको ढालने के लिये चाहे कोई भी शिक्षा-व्यवस्था लागू क्यों न की जाये, यह निस्सन्देह है कि वह कुलीनवंशवादी शिक्षा-व्यवस्था नही हो सकती है। अब उस शिक्षा-प्रणाली के दिन लद चुके हैं।

विशुद्ध लोकतन्त्रीय शिक्षा में भी यदि कुलीनतन्त्री शिक्षा से बडे नही तो, उसीके समान दोष अवश्य है। लोकतन्त्रीभावना के दो पहलू हैं। जब इस भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति कहता है कि "मैं भी तुम्हारे समान ही योग्यता रखता हूँ" तो यह एक स्वस्थ विचार है। लेकिन जब वह कहता है कि "तुम भी मुझसे अधिक योग्य नहीं हो," तो यह उक्ति लोकतन्त्र के बुरे पहलू की ओर इंगित करती

है। यह विचक्षण बुद्धि के विकास में बाधा पहुँचाती है। इसी को और अधिक सरल शब्दों में प्रकट करने के लिये कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र का आत्म-सम्मान की भावना को बढ़ावा देना सराहनीय है। लेकिन इसके विपरीत उस व्यवस्था में प्रतिभावान व्यक्तियों पर समूह का हावी हो जाना भर्त्सनीय है। निस्सन्देह विचक्षण-बुद्धि व्यक्ति का यह दमन कुलीनतन्त्रात्मक विद्यालयों में भी होता है। प्रतिभावान को वहाँ भी दुर्व्यवहार और अत्याचार सहन करने पड़ते हैं। लेकिन लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में यह दमन केवल व्यावहारिक रूप मे ही न होकर सैद्धान्तिक रूप मे भी होता है। यह प्रवृत्ति केवल विद्यालयों तक ही सीमित न होकर उसके सारे सामाजिक जीवन मे विद्यमान रहती है। विचित्र-मन व्यक्ति को भी सहन कर लेना ब्रिटिश समाज की बड़ी विशेषता है। सत्ताधारी उच्च वंशों के कारण ही अंग्रेजी समाज में यह विशेषता पाई जाती है। निस्सदेह बॉयरन और शैले को सामाजिक अत्याचार सहन करने पड़े। लेकिन यह भी तो सत्य है कि यदि वे किसी लोकतन्त्री देश मे रहते होते तो उन्हें और भी अधिक यातनाएँ सहन करनी पड़तीं। इसके ऊपर यदि सत्ताधारी उच्चवर्ग में आत्म-सम्मान की भावना न होती तो ये यातनाएँ इतनी नृशस होती शायद बॉयरन और शैले उन्हें सहन न कर पाते।

लेकिन यह लोकतंत्री शिक्षा का प्रमुख दोष नही है। अमरीका में लोकतन्त्री भावना काफी गहरी है। वहाँ विचक्षण-बुद्धि बालको के योग्य कोई शिक्षा-व्यवस्था करना सम्भव नही हुआ है। यद्यपि वहाँ हाल ही मे इस दिशा मे कुछ कार्य किया गया है। लेकिन इसका श्रेय लोकतंत्र-विरोधी वर्ग को ही है। यह निर्विवाद है कि कुछ बालक अन्य बालको की तुलना में अधिक प्रतिभावान होते है। यह भी सत्य है कि यदि हम प्रखर-बुद्धि बालकों का पूर्णतम विकास चाहते है तथा समाज उनसे लाभान्वित होने की कामना करता है तो उनके लिए साधारण बालको से भिन्न शिक्षा-व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। कुलीनतन्त्र का भ्रम कुछ लोगों का अपने को अन्य लोगों से श्रेष्ठ समझने के बजाय श्रेष्ठता को उत्तराधिकार द्वारा ही प्राप्य समझ लेना था। इसके विपरीत लोकतन्त्री की भ्रान्ति किसी द्वारा श्रेष्ठता का दावा किया जाना समूह की मान-हानि समझना है। वर्तमान परिस्थितियों में जन-साधारण के हितार्थ किये जाने वाले काफी कार्य ऐसे है; जिनके सम्पादन के लिये साधारण बुद्धि व्यक्ति से अधिक योग्य व्यक्ति स्पृहणीय है। ऐसे प्रखर बुद्धि लोगों को छाँटने की कोई तरकीब ढूंढ ली जानी चाहिये। उनको इन कार्यों को करने के लिए समर्थ बनाने हेतु यह इच्छित है कि उन्हे छोटी ही उम्र, संभवतया बारह वर्ष के समीप, से चुन लिया जाए। उनकी शिक्षा-व्यवस्था ऐसी रखी जाये कि वे साधारण बालकों की तुलना में अपनी बुद्धि के अनुकूल अधिक प्रगति कर सकें। यह भावना कि चंद बालको को चुनकर उनकी अलग शिक्षा-व्यवस्था करना

अलोकतन्त्री है, प्रखर बुद्धि बालकों के काम और समय की बर्बादी का कारण होती है। मैं इस प्रश्न पर फिर से बारहवें अध्याय में विचार करूँगा। अस्तु, मैं यहाँ पर केवल यही कहूँगा कि इस समस्या की मूल लोकतन्त्री सरकार न होकर केवल लोकतन्त्र की भावना की अति है। फ्रांस भी अमरीका की भाँति ही लोकतन्त्री देश है। लेकिन वहाँ प्रखर बुद्धि बालकों के लिये विशिष्ट शिक्षा-व्यवस्था कठिन नहीं है। वहाँ बौद्धिक तथा कलात्मक विशेषताओं का सम्मान किया जाता है। वहाँ इन विशेषताओं के लिये ख्यातिलब्ध व्यक्तियों को आदर-भाव से तो देखा ही जाता है; इसके साथ-ही-साथ जिन नवयुवकों में उनकी सम्भावना-भर भी प्रतिलक्षित होने लगती है, समाज में उन्हें भी सम्मान दिया जाने लगता है।

लोकतन्त्र एक सिद्धान्त के रूप में सर्व-साधारण के लिये अब प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व की भाँति आकर्षक नहीं रह गया है। यह सर्वविदित है कि उद्योग-प्रधान समाज में शक्ति के कुछ केन्द्र होते हैं, जिन पर यदि व्यक्तिगत उद्योगपतियों (धनिकतन्त्रियों) का नहीं तो प्रशासकों का अधिकार अवश्य ही होता है। हो सकता है कि वे परोक्ष रूप में जनसत्ता द्वारा शासित हों; तिस पर भी कई विषयों पर उन्हें केवल अपनी सूझ के आधार पर कई महत्त्वपूर्ण निर्णय करने पड़ते हैं। इस प्रकार हम कुलीनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र के व्यावहारिक विकल्प के रूप में अधिकारीतन्त्र पर पहुँचते है। अन्यायपूर्ण विशेषाधिकारों को समाप्त करने के हर सम्भव उपाय के प्रयोग के बावजूद शासनाधिकार को समान रूप से विभाजित नहीं किया जा सकता है। सत्ता के असमान विभाजन से बचने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन वही लोग इसका अधिक उपयोग कर सकेंगे जो उसकी योग्यता रखते हों। परन्तु उनकी शासन-सत्ता निरंकुश राजा तथा धनिकतन्त्री की तरह उत्तरदायित्वहीन नहीं होगी। उनके अधिकार अन्ततः जनसत्ता से शासित होंगे। इस सत्ता का चतुराई के साथ उपयोग करने के लिये व्यक्ति में ऐसे गुणों का होना आवश्यक है जो लोकतन्त्री या कुलीनतन्त्री शिक्षा से प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं। उन्हें ज्ञान और योग्यता में साधारण व्यक्ति से श्रेष्ठ होना चाहिये। यह उन की शिक्षा का अलोकतन्त्री रूप है। उनकी शिक्षा का अकुलीनतन्त्री तत्व यही है कि उनकी विशेष स्थिति उत्तराधिकार पर आधारित न होकर उनकी अपनी विशेष योग्यताओं के कारण होती है। उनकी सत्ता एकान्त तथा निस्सीमित, नहीं है। अतः उनमें आदेश देने की विशेष योग्यता भी आवश्यक नहीं है। उनके लिये केवल यही पर्याप्त है कि सभी समस्याओं पर सही निर्णय दे सकें तथा अपने से कम समझदार लोगों को भी अपने निर्णय स्पष्टतः समझा सकें।

यह सुस्पष्ट है कि वैज्ञानिक आविष्कारों तथा विधियों के कारण समाज-व्यवस्था जितनी ही अधिक जटिल होती जा रही है, प्रशासक की महत्ता भी उसी अनुपात में बढ़ती जाती है। इसलिये वर्तमान विज्ञान-प्रधान राज्य में अधिकारियों

की उचित शिक्षा की समस्या और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसके लिये शिक्षकों तथा शिक्षा-अधिकारियों का बालकों की जन्मजात योग्यताओ, उनके महत्त्व तथा उनको ढूँढने की विधियो से परिचित होना आवश्यक है। प्रखर-बुद्धि बालको के लिये विशेष कक्षाओं और ऐसे पाठ्यक्रम की आवश्यकता है, जिससे वे विचारों की विशदता तथा आवश्यक विशेष ज्ञान प्राप्त कर सके। लोगो की कुछ ऐसी धारणा है कि न तो व्यावहारिक तथा उपयोगी बातों का ज्ञान व्यक्ति को सुसंस्कृत बना सकता है और न ही संस्कृति-प्रधान ज्ञान से जीवनोपयोगी ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। मेरा विचार है कि यह एक भ्रान्ति है। अधिकतर यह समझा जाता है कि पेलोपोन्नेसियन युद्ध का ज्ञान मस्तिष्क को परिष्कृत करने वाला होता है तथा रूसी राज्यक्रान्ति का ज्ञान अशिष्ट और भर्त्सनीय है। इस प्रकार की धारणाएँ केवल लाभकारी ज्ञान-प्राप्ति में ही नही, अपितु सुसस्कृत बनने के मार्ग में भी बाधक होती हैं। सच्ची संस्कृति के ज्ञान से विचारो की विशदता और उदारता की भावना की प्राप्ति होती है। लेकिन आज के थोथे सिद्धान्तवादी सस्कृति को उसके इस प्राण से वचित करना चाहते है।

अधिकारी की शिक्षा एक विशेष प्रकार के नागरिक की शिक्षा होगी। लेकिन वह शिक्षा यदि इस दृष्टिकोण पर आधारित हो कि केवल परम्परागत तथा प्रतिष्ठित ज्ञान ही ग्राह्य है तथा अन्य श्रेष्ठ और उपयोगी ज्ञान से शिक्षको के परिचित न होने के कारण ही उसे थोथा करार दिया जाय तो वह अच्छी शिक्षा नही कहला सकती। पुनर्जागरण (रेनेसाँ) के समय अधिकाश साहित्य लैटिन और ग्रीक भाषाओं में था। लेकिन अब परिस्थिति यह नही है। हमारे अधिकाश पब्लिक स्कूल अभी तक इस परिवर्तन से अनभिज्ञ ही है। हमारी सरकार भी अभी तक अपने अधिकारियों को गौरव-ग्रन्थों (क्लासिक्स) के ज्ञान के आधार पर चुनने की पुरानी परिपाटी को ही अपनाये हुए है। यद्यपि यह निर्विवाद है कि आधुनिक भाषाओ – फ्रेंच और जर्मन —का ज्ञान उपयोगिता तथा सस्कृति दोनों के आधार पर और अधिक लाभकारी होता है। जन-साधारण मे संस्कृति को जो उपेक्षा के साथ देखा जा रहा है, उसका मुख्य कारण संस्कृति का रूढिवादी तथा सकीर्ण दृष्टिकोण है। सच्ची संस्कृति व्यक्ति को जीवन-पर्यन्त के लिये विश्व नागरिक बना लेती है। उसे समस्त मानव-समाज को समझने में सहायता देती है। सम्प्रदायों को किन उद्देश्यों के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा वर्तमान को किस प्रकार भूत और भविष्य से अनुबन्धित करके देखा जा सकता है, यह समझने में सहायता देती है। अतः ऐसी संस्कृति का ज्ञान सत्ताधारी लोगो के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना परिस्थितियो तथा समस्याओ का गहन ज्ञान। मनुष्य को उपयोगी बनाने का एकमात्र साधन उसे समझदार बनाना है और विचारों की व्यापकता ही समझदारी का आधार है।

७

शिक्षा और सामूहिकता

व्यक्ति के बचपन और तरुणावस्था में समूह के असर का उसके चरित्र-निर्माण पर बहुत प्रभाव पडता है। उसके व्यक्तित्व में जो विचित्रताएँ पाई जाती है, उनका कारण उस पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न समूहों का परस्पर-विरोध अथवा उसकी रुचियों और उन समूहों की मान्यताओं में मतभेद है। शिक्षा मे समूह को व्यक्ति पर हावी न होने देने पर काफी ध्यान दिया जाना चाहिये। प्रयास यही रहे कि उसका असर हानिकारक न होकर सदा लाभकारी हो।

अधिकांश नवयुवक छोटे तथा वडे दो भिन्न किस्म के समूहों से प्रभावित रहते है। बडे समूह मे केवल नवयुवक ही नहीं होते। उसमें वह सारा समाज होता है, जिसमे बालक रहता है। बालक का परिवार इस समूह का प्रमुख अंग होता हैं। परन्तु जहाँ पर बालक के घर व उसके विद्यालय की मान्यताएँ बेमेल होती है, वहाँ परिवार उस बड़े समूह के प्रमुख प्रभावकारी अग के रूप में नही रह पाता है। संयुक्त राज्य अमरीका के आप्रवासी इसके उदाहरण हैं। जितने समय तक बालक विद्यालय मे रहता है, वह उतना प्रभावित बड़े समूह से नही रहता, जितना अपने विद्यालय के साथियों से निर्मित छोटे समूह से। परस्पर निकट रहने वाले व्यक्तियों के झुंड मे एक सामूहिकता की भावना आ जाती है। इस सामूहिकता की प्रतीति उनके व्यवहार की स्वाभाविक समानता में होती है। लेकिन उन्ही परिस्थितियो मे रहने वाला कोई व्यक्ति यदि सामूहिकता की भावना तथा व्यवहार की एकरूपता प्रदर्शित नहीं करता है तो वह उस समूह का नही समझा जाता है और उस समूह में उसके प्रति विद्वेष की भावना रहती है। विद्यालय में प्रवेश करने वाले प्रत्येक बालक को एक ऐसे संक्रमणकाल से गुजरना पड़ता है, जब उसे विद्यालय समूह मे पहले से ही अनुबन्धित बालकों की विद्वेष-मूलक शंकाओं का शिकार होना पड़ता है। यदि बालक में कोई असाधारण बात नहीं है तो वह शीघ्र ही उस समूह में घुल-मिल जाता है और उसी के अनुरूप व्यवहार करने तथा सोचने लगता है। यदि उसमे कोई असाधारण गुण हो तो वह या तो उस समूह का नेता बन जाता है या उसमें एक अत्याचार-पीड़ित प्राणी

की तरह रहता है। चंद बालक अपने स्वभाव की अति मृदुलता तथा अन्य विचित्रताओं के कारण ईटन के 'पागल शैले' की तरह अपनी विचित्रता के लिये प्रसिद्ध हो जाते है।

रूढ़िवादी स्वभाव के लोग अपने विद्यार्थी जीवन से ही ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेते है कि वे अनायास ही जान लेते है कि एक रूढ़िवादी व्यक्ति की क्या विशेषताएँ होती है तथा जीवन में सम्मान-प्राप्ति हेतु किन बातों की आवश्यकता होती है। यदि किसी समुदाय का कोई सदस्य उस समुदाय के अनुरूप व्यवहार नहीं करता है तो उसके रूढिवादी सह-सदस्य को अपने बचपन के उन साथियों का स्मरण हो आयेगा, जिन्हें अपने स्वभाव की विचित्रता के कारण यातनाएँ भुगतनी पड़ी हों। अपने वयस्क जीवन में भी अपने-आपको समाजोचित ढग से ढालने में वह प्रमुखतया भय की भावना से ही अनुप्रेरित होगा। वास्तव में व्यक्ति के आचार के तौर-तरीकों पर इसी भय का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि व्यक्ति को अपने-आप पर छोड़ दिया जाये तो वह दुश्चरित्र, नियम के विपरीत व्यवहार करने वाला, दूसरे की परवाह न करने वाला, अत्याचारी, निर्दयी आदि कुछ भी हो सकता है। लेकिन वह ऐसा नही करता—केवल इसी भय से कि कही ऐसे व्यवहार के कारण वह अपने वर्ग द्वारा उपेक्षित न हो जाये। ये अनिच्छित बातें देश, काल और समाज पर निर्भर करती है। पर इतना अवश्य है कि प्रत्येक देश, काल और समाज में कुछ ऐसी बाते होती ही है, जिन्हे अच्छा नही समझा जाता है।

प्रायः सभी स्त्री-पुरुष समूह के भय से काफी प्रभावित रहते है। विद्यालय से इस भावना का प्रारम्भ होता है। इसलिये यह बहुत जरूरी है कि नैतिक शिक्षा के द्वारा ऐसा वातावरण तैयार किया जाये, जिससे समूह केवल अनिच्छित तथा बदली जा सकने वाली बातें ही नापसन्द करे। लेकिन यह काफी कठिन कार्य है। बाल-समूह की आचार संहिता का स्तर सदा ऊँचा नही रहता। ऐसे उदाहरणो की भी कमी नही है, जब बालकों को ऐसी बातों के लिये भी यातनाएँ सहन करनी पड़ी है, जिनको बदलना उनके लिए कदापि सम्भव नही होता। जन्म से ही मुख पर कोई विशेष चिह्न होने के कारण बालक को अपने समस्त सहपाठियो के हाथो सारे समय तक अपमानित होना पड़ सकता है और तिस पर भी कोई विरला छात्र ही ऐसा होगा जो उसको अपनी दया का पात्र समझेगा। मेरा विचार है कि यह स्थिति कदापि आवश्यक नहीं है। बालकों को दया का व्यवहार करना सिखाना असम्भव नही है। निस्सन्देह यह कार्य कठिन है—विशेषतः इसलिये भी कि हमारे शिक्षक अपने शिक्षार्थियों को बहादुर बनाने के लिये अति व्यग्र रहते है, वे शायद ही इस दिशा में कुछ करने के लिये तैयार होंगे।

कभी बालकों के बड़े समूह—समाज—तथा छोटे समूह—विद्यालय—में

परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रहती है। अयहूदी (जेन्टायल्स) बालकों के विद्यालय में यहूदी बालकों की उपस्थिति ऐसी परिस्थिति का एक उदाहरण है। इस अवस्था मे स्थिति व्यक्तिगत दृष्टिकोण के बजाय सामाजिक दृष्टिकोण के कारण और अधिक कष्टदायक हो जाती है। उदार विचारधारा वाले समाज में भी यहूदियों को अपने बचपन में प्राय: अपनी जाति के आधार पर अपमानित होना पड़ा है। यह दुर्व्यवहार उनके जीवनपर्यन्त उनकी स्मृति का विषय बनकर रह जाता है। यह याद जीवन और समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित कर देती है। यहूदि बालक को घर पर अवश्य ही अपनी जाति पर गौरव करना सिखाया जाता होगा। इस बात का भी उसे एहसास हो सकता है कि उसकी सभ्यता अधिकांश पाश्चात्य सभ्यताओ से पुरानी है। वह यह भी जान सकता है कि जनसंख्या के अनुपात मे मानव-सभ्यता मे यहूदियो का योगदान किसी भी अयहूदी जाति से बहुत अधिक रहा है। लेकिन जब वह विद्यालय में अपने अन्य साथियों को घृणा के साथ अपने लिये 'शीने' या 'आइक' की आवाजें मारते हुए सुनता है तो उसे यह स्मरण भी नहीं हो सकता कि यहूदी होना सौभाग्य की बात है। यदि वह यह स्मरण करने की हिम्मत भी करता है तो केवल अवज्ञा भाव से। इस प्रकार बालक के मन में उसके घर और विद्यालय की मान्यताओं में पारस्परिक द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। यह द्वन्द्व मानसिक अशान्ति तथा डरपोकपन की भावना में प्रतिफलित होता है। इससे यहूदी राष्ट्रीयता को बल मिला। इसके अतिरिक्त इस परिस्थिति के सामान्यता दो परिणाम —क्रान्ति या चाटुकारिता— होते है। कार्ल मार्क्स और डिजरायली को इन दो प्रतिक्रियाओ के ज्वलन्त उदाहरणों के रूप मे लिया जा सकता है। यदि मार्क्स यहूदी न होते तो बहुत सम्भव था कि वे तत्कालीन समाज-व्यवस्था से घृणा न करते। अपनी प्रतिभा के आधार पर ही वे गैर-यहूदी (जेन्टायल्स) जातियों के प्रति अपनी घृणा को पूजीपति-विरोधी जामा पहना सके। चूंकि पूंजीपतियों के कृत्य ही घृणास्पद थे, अत: वे एक ऐसी विचारधारा को जन्म दे सके जो काफी हद तक सही है। इससे पूंजीपतियों के कुकृत्यों का पर्दाफाश होता है। डिजरायली जाति से यहूदी और धर्म से ईसाई थे। उन्होंने परिस्थिति का बिलकुल दूसरे ढंग से सामना किया। उन्होंने तहेदिल से कुलीनतंत्र के गौरव तथा राजतन्त्र की महिमा का बखान किया। इसी में उन्होंने सुरक्षा महसूस की। उनका यही दृष्टिकोण उनको यहूदी होने के फलस्वरूप मिलने वाली यातनाओ से बचा सकता था। यह भीषण नर-संहार से बचने का साधन था। एक विरोधी समूह का जो भय कार्ल मार्क्स को क्रान्ति के मार्ग पर ले गया, वही डिजरायली को अपनी सुरक्षा हेतु चाटुकारिता की ओर ले गया। आश्चर्य-जनक दक्षता के साथ उन्होंने अपने-आपको उस बलशाली समूह में मिला दिया। सी मे वे उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गये। गौरवशाली सामन्त परिवारों

के वे नायक तथा अपनी सम्राज्ञी के स्नेह-भाजन बने। हाउस ऑफ़ कामन्स में डिज़रायली जब अपना प्रथम भाषण दे रहे थे तो सदस्यों की हँसी के कारण उनका भाषण सुना न जा सका। इसके उत्तर में वे चिल्लाकर बोले, "वह समय भी आयेगा, जब आप लोगो को मेरी बात सुनने के लिये बाध्य होना पडेगा।" इसी एक वाक्य में उनके जीवन का सार निहित है। ऐसी परिस्थिति में एक सामन्त का व्यवहार कितना भिन्न रहता है, यह बड़े पिट के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है—एक बार उन्होंने सदन (हाउस) मे "श्रीमन्, चीनी···" शब्दो से अपना भाषण प्रारम्भ किया। इससे सदन में फुसफुसाहट फैल गई। चारो ओर देखकर उन्होने और अधिक ऊँची आवाज मे "श्रीमन्, चीनी···" कहा। इस समय भी सदन की प्रतिक्रिया पूर्ववत् रही। तीसरी बार आंखों से आग के शोले बरसाते हुए उन्होंने गर्जना की 'श्रीमन् चीनी···" और सारे सदन मे सन्नाटा छा गया।

कई अवस्थाओं में व्यक्ति समूह के द्वारा अपमानित होने से बचने की इच्छा के कारण ही प्रसिद्ध या कुख्यात हो जाता है। जारज इसके अच्छे उदाहरण है। शेक्सपियर रचित 'लियर' नाटक का पात्र एडमण्ड अपने अवैध जन्म के कारण ही रूढ़िवादी विचारों के लोगों का विरोधी हो गया। मैं तो यहाँ तक कहना चाहूँगा कि यदि विजयी विलियम को अपने जन्म के कलक को मिटाना न होता तो शायद वे उतनी उच्च भावनाओं से अनुप्रेरित न होते तथा उतने बड़े कार्य न करते।

अभी तक हम ऐसे व्यक्तियो पर सामान्य प्रकार के समूहो के प्रभाव के विषय में विचार कर रहे थे, जिनके चरित्र या परिस्थितियाँ असाधारण थी। लेकिन बहुधा बालकों के ऐसे समूह भी पाये गये है जो सामान्य प्रकार के समूहों से अधिक अन्यायी तथा अत्याचारी होते है। क्रोपाट्किन की शिक्षा सामतों के एक ऐसे विद्यालय मे हुई, जिसमें केवल जार के कृपाभाजन छात्र अध्ययन कर सकते थे। उस विद्यालय के क्रियाकलापों का उनके द्वारा वर्णन अति रुचिकर है। उदाहरणार्थ, वे लिखते है—

"······पहली कक्षा के बालक मनमाना व्यवहार करते थे। प्रतिवर्ष जाड़ों से कुछ समय पहले वे अपना एकप्रिय खेल किया करते थे। वे सीधे-सादे लोगो को रात में एक कमरे में जमा करते थे। उनके बदन पर उनके रात के कपडों के अलावा कुछ नही रहने दिया जाता था। फिर उनको सर्कस के घोडों की तरह दौड़ाया जाता था। कुछ सेवक कमरे के बीच में और अन्य किनारों पर खड़े होकर बड़ी बेरहमी के साथ उन्हे रबड़ के मोटे कोड़ों से मारते जाते थे। साधारणतया यह तमाशा बड़े ही घृणित ढंग से समाप्त होता था। उस समय के नैतिक आदर्शों तथा तमाशे की उस रात के पश्चात् चलने वाले घृणास्पद वार्तालाप की जितनी भर्त्सना की जाये, उतनी थोड़ी ही है।"

विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र पर विद्यालय समूह का बहुत बड़ा असर पड़ता है। उदाहरण के लिये नेपोलियन को लीजिये— नेपोलियन अपनी युवावस्था में ब्रियेन के सामन्तों के महाविद्यालय के छात्र थे। वहां अन्य सभी छात्र वैभव-सम्पन्न तथा उच्च वंशों के होते थे। फ्रांस ने कोर्सिका को राजनीतिक छूट के रूप में वहाँ के थोड़े युवकों को उस महाविद्यालय में निःशुल्क अध्ययन की सुविधा प्रदान की थी। नेपोलियन उन्हीं थोड़े-से छात्रों में से एक थे। उनका परिवार बहुत बड़ा और निर्धन था। उनके सम्राट् बनने के पश्चात् भले ही यह सरलता से ढूंढ लिया गया कि वे प्राचीन विवेलीन-परिवार के वंशज थे; लेकिन उनके छात्र-जीवन के समय किसी को यह ढूंढ करने की फुर्सत नहीं थी। उनके साथी शानदार पोशाक में रहा करते थे, तो उन्हें सादे तथा फटे-पुराने कपड़ों से अपना बदन ढकना पड़ता था। उस समूह में उनको हिकारत की निगाहों से देखा जाता था। उनका वहाँ कोई सम्मान नहीं था। अपने साथियों द्वारा वे पूर्णरूपेण उपेक्षित थे। जब राज्य-क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ तो स्वभावतः उनकी उसके प्रति सहानुभूति थी। यदि कहा जाये कि ब्रियेन में अपने समान अपने अन्य साथियों पर आने वाली आफतों की भावना ने उनकी सहानुभूति को प्रेरित किया तो यह कोई अतिशयोक्ति भी नहीं होगी। जब वह सम्राट् हो गये तो उनके लिए बृहत् सरित्सागर (अरेबियन नाइट्स) की कहानियों के नायकों की तरह बदला लेना सम्भव हो गया। उन्हें हिकारत की निगाहों से देखने वाले लोगों को अब उनके सामने झुकने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता था। अधिक सम्भव है कि नेपोलियन के शासन के अन्तिम वर्षों की तड़क-भड़क और शान-शौकत उनकी युवावस्था में सहे अपमानों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रही हो। उनकी माँ को अपमानों की यह कड़वी घूंट सहन नहीं करनी पड़ी। इसलिये नेपोलियन के उत्थान से उनके जीवन के ढर्रे पर कोई असर नहीं पड़ा। वे नेपोलियन की इच्छा के विरुद्ध भी अपने वेतन का एक बड़ा भाग उस संभावित विपत्ति काल के लिए संग्रह करती जाती थी, जब नेपोलियन का शौर्य-सूर्य अस्ताचलगामी हो जाता।

कुछ ऐसी महान् हस्तियाँ भी हो गई हैं, जिन्हे समूहों के दबाव में कभी नहीं आना पड़ा है। ऐसा सौभाग्य विशेषतया राजाओं को ही प्राप्त हुआ है। सिकन्दर महान् इसके एक अच्छे उदाहरण हैं। उन्हे कभी भी अपने समकक्षी लोगों के मध्य नहीं रहना पड़ा। सम्भवतया यही उनकी महानता तथा कमियों का कारण भी है। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ विद्यालय के छात्र में सुलभ यथार्थता से अछूती रह गई। विजेता बनने की लहर में उन्हें विश्व-विजयी होना एक सहज बात प्रतीत होने लगी। स्वयम् को अपने सभी समकालीन लोगों से महान् समझने की दौड़ में उनको अपने-आपको देवता ही समझ लेना कोई असाधारण बात प्रतीत नहीं हुई। अपने घनिष्ठतम मित्रों से व्यवहार में भी वे उनके अधिकारों का

सम्मान करना तो रहा दूर, उनके अधिकारों की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। उनके द्वारा पार्मेनियों और क्लीट्स की हत्याओं को यदि अपने-आपमें लिया जाये तो वे एक नृशंस अत्याचारी के रूप में दिखाई देते हैं। लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से देखा जाय तो ये कृत्य एक ऐसे व्यक्ति के अधीरज के फलस्वरूप थे, जो समूह के प्रभाव से सदा वंचित रहा।

ये उदाहरण यह स्पष्ट करने के लिए दिये गये हैं कि विद्यालय समूह का चरित्र-निर्माण पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। जहाँ इस समूह तथा असाधारण प्रतिभावान बालक की व्यक्तिगत या सामाजिक विशेषताओं में द्वन्द हो जाता है, यह असर और भी अधिक प्रभावकारी होता है। अतः यदि किसी व्यक्ति को अच्छे विद्यालय की स्थापना करनी है तो उसे सबसे अधिक ध्यान इस बात पर देना चाहिये कि उसका छात्र-समूह आदर्श हो। यदि वह स्वयम् दयावान तथा सहिष्णु होते हुए भी अपने छात्रों को निर्दयी तथा असहिष्णु होने देता है तो उसके अच्छे गुणों के बावजूद उसके छात्र एक अत्याचारपूर्ण वातावरण में वास करेंगे। मेरा विचार है कि हमारे कुछ मौजूदा विद्यालयों में छात्र-जीवन में हस्त-क्षेप न करने के सिद्धांत पर इस हद तक व्यवहार किया जाता है कि ऐसा अनिच्छित वातावरण स्वभावतया बन जाता है। यदि वयस्क बालकों के मामलों में हस्तक्षेप कदापि न करें तो छोटे बालकों पर बड़े बालकों का आतंक छा जायेगा। फलस्वरूप स्वतन्त्रता, जो विद्यालय का प्राण समझी जाती है, केवल बलशाली बालकों के सामन्तवाद के रूप में रह जायेगी। साथ-ही-साथ यह भी समझ लिया जाना चाहिये कि एक बार इस बुराई के चल पड़ने पर अनुशासनात्मक कार्यवाही से इस अत्याचार का निराकरण करना काफी कठिन होगा। यदि वयस्क लोग बड़े बालकों के साथ व्यवहार में सख्ती का प्रयोग करेंगे तो बदले में वे भी अपने से छोटों के साथ वैसा ही व्यवहार करेंगे। समूह के असर तथा उसमें शारीरिक शक्ति की प्रमुखता को बाल-स्वभाव की आवश्यकता के अनुसार सीमित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। बालक-बालिकाओं का अपने समूह में सामाजिक व्यव-हार की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर लेना उचित है। लेकिन उसके साथ ही यह ध्यान भी रहे कि समूह उनके ऊपर ही हावी न हो जाये। समूह का असर उसकी गहनता तथा दिशा में आँका जा सकता है। यदि असर गहन हो तो उसके परिणामस्वरूप संकोचशील तथा रूढ़िवादी व्यक्तियों का निर्माण होता है। चन्द व्यक्ति ही समूह के इस गहन असर के परे रह सकते हैं। समूह चाहे कितने ही ऊँचे नैतिक आदर्शों से अनुप्रेरित क्यों न हो, लेकिन यह परिणाम ईप्सित नहीं है। 'टाम ब्राउन्स स्कूल डेज' नामक पुस्तक में एक बालक पर प्रार्थना करने के कारण लात मार दी जाती है। यह पुस्तक बहुत अधिक प्रभावकारी थी। मुझे अपने एक समकालीन व्यक्ति की याद हो आती है, जिस पर प्रार्थना न करने के दण्ड-

स्वरूप लात मार दी गई। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि इसके बावजूद वह अपने जीवन-पर्यन्त एक प्रसिद्ध अनीश्वरवादी रहा। इस प्रकार समूह की इस प्रकार की ज्यादती, चाहे वह कितने ही ऊँचे आदर्शों से अनुप्रेरित क्यों न हो, अनिच्छित हो जाती है। अति सामूहिक दवाव व्यक्तित्व के विकास में बाधक होता है। यह प्रतिभावान बालकों में पाई जाने वाली वैज्ञानिक, कलात्मक, साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा अन्य रुचियों के सुचारु विकास में बाधक होता है। ऐसे गुण ही मानव-सभ्यता को उन्नत बनाते हैं। तिस पर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि समूह में पाई जाने वाली प्रतिस्पर्धा की भावना लाभकर है। इससे बहादुरी को प्रोत्साहन मिलता है तथा चुगली करने की घृणित आदत समाप्त हो जाती है। अस्तु, कुछ बुराइयों के साथ-ही-साथ इनकी कुछ अच्छाइयाँ भी है ही।

जब समूह क्रोपाट्किन द्वारा वर्णित 'सेवक सेना' की-सी भावनाओं से ओत-प्रोत न होकर उच्चादर्शों से प्रभावित रहता है तो ये अच्छाइयाँ और अधिक बढ़ जाती हैं। असाधारण प्रतिभा के बालक-बालिकाओं के लिए विशेष प्रकार के विद्यालय स्थापित करने का एक लाभ यह भी होगा कि वहाँ का समूह साधारण विद्यालयों से इतना अधिक जागृत हो कि उसमें उत्कृष्ट रुचियों को घृणा की निगाहों से नहीं देखा जायेगा। लेकिन जहाँ पर साधारण योग्यता के बालक-बालिका शिक्षा पाते हों, वहाँ पर भी बूढ़े अपने उदाहरण द्वारा समूह में कुछ हद तक सहिष्णुता, दयार्द्रता, आदि भावनाओं को बढावा दे सकते हैं। वे बालकों को खेल सरीखे सामूहिक कार्यों के प्रति जागृत कर सकते है। ऐसे कार्यों में सामूहिकता की भावना दमन के बजाय स्वाभाविक तथा सहकारी रूप में जागृत होती है।

कुछ असाधारण रूप से चरित्रवान व्यक्तियों का समूह में अपने-आपको न खोकर अलग बने रहना काफी महत्त्वपूर्ण है। उसकी उनके लिए एक शैक्षिक उपयोगिता है। इस प्रकार उनकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है तथा उनमें आत्म-निर्भरता की भावना जागृत होती है। यदि उन्हें अपनी सहनशक्ति की सीमा तक ही आफतें उठानी पड़ें तो इससे उन्हें लाभ ही होता है। लेकिन यदि वे समूह की यातनाओं को सहन करने में असमर्थ हो जाते है तो या तो उन्हें समूह के सामने घुटने टेककर अपने चरित्र की सारी अच्छाइयों से हाथ धो लेना पड़ता है या वे इतने क्रुद्ध हो उठते हैं कि नेपोलियन की भाँति विश्व को अनगनित मुसीबतों का सामना करने के लिए बाध्य करते है।

जहाँ तक विद्यालय से बाहर के बड़े समूह का प्रश्न है, प्रगतिशील विचारों के माता-पिता एक ऐसी द्विविधा की अनुभूति करते हैं, जिसका निराकरण उनके लिए काफी कठिन होता है। प्रगतिशील विद्यालयों के वातावरण की दो

विशेषताएँ होती है, जिनकी सामान्य जीवन मे नितान्त कमी रहती है— वहाँ पर प्रगतिशील विचारो को प्रोत्साहन दिया जाता है तथा बालक को काफी हद तक स्वतन्त्रता उपलब्ध रहती है। यदि प्रगतिशील विचारों के माता-पिता अपने बालकों को ऐसे विद्यालयो में विद्याध्ययन के लिए भेजें तो उनका यह भय भी उचित ही है कि कही उनके बालक अपने भावी जीवन मे अपने-आपको समाजानुकूल बनाने में असमर्थ महसूस न करें। जिन बालकों को विद्यालय मे काम-वासना के विषय मे स्वच्छन्दतापूर्वक सोचने तथा बोलने की छूट रहती है, उन्हें वास्तविक जीवन के वाक्-सयम तथा सामाजिक धारणाओ से परेशानी होगी। जिन्हे देश-भक्ति की शिक्षा न मिले, उनको इस राष्ट्रवादिता-प्रधान विश्व मे अपने लिए स्थान बनाने मे कठिनाई होती है। जिनको शासन का सम्मान करने की शिक्षा नही दी गयी होती है, उन्हे अपनी बेलगाम आलोचनाओ के कारण मुसीबतो का सामना करना पड़ सकता है। संक्षेप मे एक बार स्वतन्त्रता का रसास्वादन कर लेने के उपरान्त परतन्त्रता की बेड़ियां जन्मजात परतन्त्रता की बेडियों से अधिक कष्टदायक होती हैं। उदार-मन माता-पिता से अपने बालको को पुराने प्रकार के विद्यालयो में भेजने के पक्ष में मुझे बहुधा ये तर्क सुनने को मिलते है।

मेरा विचार है कि इस तर्क के दो उत्तर सम्भव हो सकते है। पहला उत्तर इस तर्क पर आधारित है कि बालक दूसरों के समान प्रकट व्यवहार करना अनायास ही सीख जाते है। वास्तव में सारे विश्व मे रूढ़िवादी शिक्षा-प्रणाली के द्वारा यही शिक्षा दी जाती है। इस प्रणाली के अनुसार बालक का अपने अध्यापकों या माता-पिता के सम्मुख व्यवहार अपने हमजोलियों के साथ व्यवहार से भिन्न होता है। मेरा विश्वास है कि व्यवहार की यह अनुरूपता कुमारावस्था में भी उतनी ही सुगमता से सीखी जा सकती है, जितनी सुगमता से बचपन मे कुछ हद तक यह समस्या केवल सदाचरण की है। किसी मुसलमान से मुहम्मद साहब की बुराई करना या किसी न्यायाधीश के सम्मुख जाब्ता फौजदारी की त्रुटियों पर प्रकाश डालना कटु व्यवहार होगा। इस प्रकार के विषयों पर सार्वजनिक स्थल पर अपने विचार प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य हो सकता है; लेकिन किसी से बातचीत करते समय सुनने वाले के दिल को पीड़ा पहुँचाने या उसे गुस्सा दिलाने वाले विचार प्रकट करना कदापि कर्त्तव्यपरायणता नहीं है। मेरा विचार है कि प्रगतिशील शिक्षा न तो बालक-बालिका को सामाजिक जीवन में ईप्सित सद्व्यवहार के अयोग्य बनाती है और न ही उन्हें समाज के अनुकूल अपने-आपको परिवर्तित करने में असफल बनाती है। एक बार उन्मुक्त जीवन का आस्वादन करने के उपरान्त उनके लिये अपने-आपको समाज के अनुकूल ढालना कुछ कष्टदायक हो सकता है। परन्तु दूसरी ओर रूढ़िवादी शिक्षा बालक के मन में जिन भावना-ग्रन्थियों को पैदा कर लेती है, वे उसके सारे जीवन को ही दुखी बना लेती हैं।

कोई भी समझदार व्यक्ति अपने बच्चे को इस बड़े कष्ट में डालना पसन्द नहीं करेगा। यह इस तर्क का पहला उत्तर है।

दूसरा उत्तर और अधिक गहराई मे जाता है। इस दुनिया में कई दोष ऐसे है, जिन्हे हम चाहे तो दूर कर सकते है। जिन लोगों को इन दोषों का ज्ञान है तथा उनके निराकरण हेतु प्रयत्नशील रहते है, उन्हें कुछ कष्ट उठाने पड़ सकते है। हो सकता है कि उन्हे अपने दैनिक जीवन में अपने यथास्थिति के पुजारी साथियों से कम सुख की प्राप्ति हो। लेकिन उस सुख के बदले उन्हें जिस वस्तु की प्राप्ति होगी, उसे कम-से-कम मैं तो अपने तथा अपने बच्चों के लिये यथास्थिति के पुजारियों को प्राप्त सुख से अधिक महत्वपूर्ण समझता हूँ। उन्हें इस बात की अनुभूति से अतीव प्रसन्नता होगी कि वे इस विश्व को कम कष्टदायक बनाने के लिये भरसक प्रयास कर रहे है। उनकी मान्यताओं का स्तर सहज व्यवहारशील रूढिवादियों से अधिक ऊँचा और न्यायानुकूल होगा। उन्हें इस बात का ज्ञान होगा कि वे उन चन्द लोगों में से है जो मानवता को प्रगति-रुद्ध तथा निराश होने से बचाते है। यह निष्क्रिय बनाने वाले सन्तोष की भावना से बेहतर है। यदि स्वतंत्र शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति करती है तो माता-पिता को अपने बच्चों को केवल मात्र ऐसी शिक्षा से मिलने वाले क्षणिक दुखों की सम्भावना के कारण ही वंचित नही रखना चाहिये।

८

शिक्षा में धर्म का स्थान

धर्म एक जटिल विषय है। इसके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पहलू हैं। ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ तक धर्म काफी पुराना हो चुका था। इसी से धर्म की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐतिहासिक काल में सभ्यता के उत्थान के साथ-ही-साथ धार्मिक भावना का भी ह्रास होता गया। प्राचीन काल के जिन धर्मों के विषय में मनुष्य को ज्ञान है, वे व्यक्तिगत न होकर सामाजिक थे। उन धर्मों के अनुसार कुछ ऐसी शक्तिशाली प्रेतात्माएँ थी, जो सम्पूर्ण कबीले को उसके सदस्यों के भले या बुरे कर्मों के लिये पुरस्कृत या दण्डित करती थी। इन प्रेतात्माओं की भावनाओं का आगमन इन्डक्शन के द्वारा लगाया जाता था। तत्पश्चात् वे भावनाएँ धर्म-गुरुओं की परम्पराओं मे सम्मिलित हो जाती थी। यदि किसी प्रदेश के निवासी भूचाल या महामारी से नष्ट हो जाते, तो इस दैवी प्रकोप का कारण वहाँ के वासियों की कुछ विशेष आदते मानी जाती। समाज के बुद्धिमान लोग उनकी उन विशेष आदतों को मालूम करने का प्रयास करते तथा भविष्य में उन आपदाओं की पुनरावृत्ति न होने देने के लिये उन आदतों से बचने की ताकीद करते। यह दृष्टिकोण आज तक भी पाया जाता है। मैं इग्लैंड के एक पादरी को जानता हूँ, जिनकी धारणा थी कि प्रथम महायुद्ध मे जर्मन लोगों की हार का कारण यही था कि उन्होंने मूल धार्मिक ग्रन्थों की समालोचना करने का दुस्साहस किया था। उनके अनुसार विश्व-रचयिता की भूल है, ग्रन्थों की व्याख्या पसन्द नही है।

धर्म का पक्ष लेने वाले लोग बहुधा कहते है कि धर्म हममें अपने समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना जागृत करता है। यदि व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जो देवताओं को प्रिय नहीं है तो उसका दुष्परिणाम केवल उसे ही नहीं, अपितु सारे कबीले को भुगतना पड़ता है। चूँकि व्यक्ति के ऐसे अवगुणों के कारण भी, जिनका समाज के अन्य व्यक्तियों पर कोई असर नही पड़ता, समाज को दुर्घटनाओं या विपदाओं का शिकार होना पड़ सकता है; अस्तु, समाज की गतिविधियो के प्रति व्यग्रता स्वाभाविक ही है।

यह दृष्टिकोण आज भी फौजदारी कानून को प्रभावित किये है। उदाहरण के लिये मैथुन-विषयक कुछ बुराइयाँ ऐसी हैं कि जिन पर यदि तर्कना के दृष्टि-कोण से देखा जाये तो समाज के अन्य सदस्यों की कोई हानि नहीं होती। उनसे केवल उसी व्यक्ति की हानि होती है। तिस पर भी समाज उन्हें कारावास देकर दण्डित करता है। यदि इस प्रकार के दण्ड को सही करना हो तो यह केवल बाइ-बिल मे उल्लिखित 'मैदान की नगरियों' (सिटीज आफ प्लेन) के विनाश के उदाहरण के आधार पर ही किया जा सकता है। उन्ही अर्थो में व्यक्ति के ऐसे व्यवहार का उसके पड़ोसियों पर कोई असर पड़ सकता है। यह एक विडम्बना है कि देवता जिन बातों के कारण क्रुद्ध हो उठते है तथा सारे समाज को दंडित करने पर आमादा हो जाते हैं, वे बहुधा मनुष्यों के लिये हानिकारक नही होती है। वे सूअर या गाय के मांस-भक्षण तथा मृत पत्नी की बहन से शादी करने सरीखी बातों से भी खफा हो जाते हैं। राजा डेविड ने अपने राज्य की जन-गणना करने का दुस्साहस किया था। लेकिन देवताओ को यह कार्य कब सह्य हो सकता था ? फलस्वरूप ऐसी महामारी फैली और इतने लोग काल-कवलित हो गये कि राजा डेविड के आँकडे निरर्थक हो गये। अजटेक जाति के लोगों के देवता नरबलि तथा नर-मांस-भक्षण के आधार पर ही मनाये जा सकते थे। धर्म-प्रेरित आचार-संहिता विडम्बनामय हो सकती है; तिस पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि धर्म के कारण ही आचार-संहिता बन सकी। यदि आचार-सहिता के निपट अभाव की अपेक्षा कोई भी आचार-सहिता बेहतर समझी जाये, तो धर्म अवश्य ही एक मानव-हितकारिणी शक्ति रही है।

यद्यपि धर्म का प्रारम्भ सम्पूर्ण कबीले के धर्म के रूप में हुआ, लेकिन कुछ ही समय मे इसके दूसरे पहलू—व्यक्तिगत धर्म का भी विकास हो गया। छठी शताब्दी ई० पू० से ही विश्व में कुछ ऐसे धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हो चुका था, जिन्होंने आत्मा तथा मोक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा। चीन के ताओ धर्म, भारत के बौद्धमत, यूनान के आर्फिक धर्म तथा हैब्रू धर्म-गुरुओ का यही दृष्टिकोण रहा। सबका यही मन्तव्य रहा कि सांसारिक जीवन दुःखपूर्ण है तथा कोई ऐसा उपाय निकाला जाय, जिससे मनुष्य को इन दुःखों से छुटकारा मिल सके। यदि यह सम्भव न हो सके तो उसे कम-से-कम ऐसा जरूर बनाया जाये, जिससे वह उन्हें सहन करने योग्य हो जाय। इससे कुछ ही समय पश्चात् पार्मीनिडीज ने जगत् की अयथार्थता तथा वस्तु मात्र की एकता के सिद्धान्त द्वारा धर्म-दर्शन की एक महान् परम्परा का सूत्रपात किया। उनके पश्चात् प्लेटो, प्लोटीनस, मध्य-युगीन ईसाई सन्त, स्पीनोजा, हीगेल, बर्गसन और सभी सूफी (रहस्यवादी या मिस्टिक) दार्शनिक इस परम्परा में हुए। हैब्रू धर्म-गुरुओं ने एक ऐसे धर्म का श्रीगणेश किया जो सदाचार को पारलौकिक जीवन से अधिक महत्त्व देता था।

प्रोटेस्टेन्ट मत भी इसी विचार से प्रभावित है। ईसाई धर्म के सभी मतो मे नैतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पहलू प्रस्तुत मिलते है। इसका कारण यह है कि यह यहूदी धर्म और यूनान के दर्शन के सम्मिश्रण के फलस्वरूप है। लेकिन ईसाई धर्म के पश्चिम की ओर विस्तार के साथ-ही-साथ इसकी आध्यात्मिकता मे कमी और नीतिकता मे आधिक्य आने लगा। इस्लाम मे ईरान के अपवाद को छोडकर, आध्यात्मिक का तत्त्व बहुत कम है, जबकि भारत में जन्म लेने वाले धर्म भी दर्शन-प्रधान है।

धर्म के व्यक्तिगत पक्ष के प्रारम्भ से ही उसके व्यक्ति तथा सस्था से सम्बन्ध रखने वाले पक्षो में परस्पर द्वन्द्व रहा है। सामाजिक पक्ष को धर्मगुरुओ, धर्म-दायों (इन्डावमेन्ट्स) व परम्पराओं के साथ-ही-साथ राज्य तथा कानून का समर्थन भी प्राप्त रहा है। अतः यह पक्ष राजनीतिक दृष्टिकोण से सदा प्रमुख रहा है। इसके विपरीत व्यक्तिगत धर्म का सम्बन्ध केवल मात्र व्यक्तिगत होने के कारण समाज को इसे सहयोग प्रदान करने की चिन्ता कभी नही रही है। संस्थागत धर्म का बड़ा राजनीतिक महत्त्व है। संस्थागत धर्म सदा किसी-न-किसी सम्पत्ति से सम्बन्धित रहा है। इसके सिद्धान्तों का प्रचार करने से किसी के लिये भी जीविकोपार्जन सुगमतापूर्वक समव हो सकता है। लेकिन इसका विरोध करने से जीवन निर्वाह की समस्या यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जाती है। जहाँ तक शिक्षा के धर्म से प्रभावित होने का प्रश्न है यह केवल सस्थागत धर्म से ही प्रभावित है; क्योंकि इसका प्राचीन धर्मादों (फाउन्डेशन्स) तथा कुछ राज्यो में, जो विद्यालयों को चलाते है या उन्हे सहायता उपलब्ध करते है, सरकारो पर नियन्त्रण रहता है। वर्तमान काल मे पश्चिमी यूरोप के अधिकाश देशों में धनी-वर्ग की शिक्षा धर्म से प्रभावित है तो निर्धन वर्ग की शिक्षा नहीं के बराबर है। इसका राजनीतिक कारण है – यदि राज्य में कोई धर्म सरकार को प्रभावित करने की स्थिति में न हो तो राजकीय शिक्षा-सस्थाएँ किसी धर्म की शिक्षा नही दे सकती है। लेकिन जो विद्यालय केवल बालकों के शिक्षा-शुल्क के आधार पर ही चलते हैं, वे बालको के अभिभावकों की इच्छानुसार किसी भी धर्म की शिक्षा दे सकते है। इगलैड तथा फ्रास मे प्रमुखतः इस परिस्थिति के कारण ही धनी-वर्ग निर्धन वर्ग से अधिक 'धार्मिक' है। यहाँ पर 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग राज-नीतिक अर्थ में है – मेरा तात्पर्य यह नही कि वे पवित्र दिल है तथा न ही यह आवश्यक है कि वे अपने दिल से ईसाई धर्म के सिद्धान्तों मे आस्था रखते हो। मेरा मतलब केवल इतना ही है कि वे मठ की सहायता करते है; व्यवस्थापक मसलों में उसका पक्ष लेते है तथा अपने बालको की शिक्षा-दीक्षा उन्ही लोगो द्वारा चाहते है, जो उस मठ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को मानते हों। इसी कारण मठ आज भी एक महत्त्वपूर्ण संस्था है।

प्रगतिशील विचारों के आम लोगों की प्रायः यह धारणा रहती है कि अब समाज में धर्म का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। मेरे विचार में यह एक महान् भूल है। यद्यपि शादी तथा तलाक-विषयक नियम ऐसा नहीं रह गया है कि पुराण-पन्थी धर्माचार्य उन्हें पसन्द करें; तिस पर भी इनमें आज भी इतनी अधिक धांधी तथा अत्याचारपूर्ण बातें सम्मिलित हैं कि यदि समाज पर धर्म का असर न रहे तो वे बातें एक सप्ताह से अधिक नहीं चल सकतीं। आज भी पागलपन के आधार पर तलाक नहीं लिया जा सकता है। ईसाई धर्म खुल्लम-खुल्ला विरोध करने वालों को उसके अनुयायियों की तुलना में कई बाधाओं का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ— यद्यपि अनीश्वरवादी को सफल होने के लिये धर्माचरण करने वाले रूढ़िवादी से अधिक क्षमताशील व प्रतिभावान होना चाहिये; तिस पर भी उसे राज्य के कई पदों से वंचित रखा जाता है।

वर्तमान काल मे संस्थागत-धर्म का शिक्षा पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इंगलैंड में सभी पब्लिक-स्कूल तथा साधारणतया सभी प्रारम्भिक पाठशालाएँ (प्रीपॅरेटरी स्कूल) ऐंगलीकन या रोमन कैथोलिक संस्थाओं के हैं। कभी स्वतन्त्र विचार वाले मां-बाप भी अपने बच्चों को ऐसे विद्यालयों में भेज दिया करते हैं। क्योंकि उनका मत है कि बालक को जैसी शिक्षा दी जाती है, वह उसके विपरीत आचरण करता है। इसलिए वे अपने बच्चों से आशा करते हैं कि वे इन विद्यालयों में जाने से धर्म-विरुद्ध आचरण करेंगे। वे अपने बालकों को धर्म-भीरु नहीं देखना चाहते हैं। अस्तु, यदि उनकी धारणा सही मान ली जाये तो बालक को गलत शिक्षा देना ही हितकर है; क्योंकि उसकी प्रतिक्रियास्वरूप वह अपने जीवन में सत्य का आचरण ही करेगा। लेकिन उनका यह तर्क अपनी रूढ़िवादिता को ढकने का एक बहाना मात्र है। आंकड़े भी इस धारणा को गलत प्रमाणित करते हैं। जनसंख्या का भारी बहुमत अपनी बाल्यावस्था मे पाई शिक्षाओं के अनुकूल ही आचरण करता है। देश सदियों तक अपने एक ही धर्म—प्रोटेस्टेन्ट, कैथोलिक, इस्लाम आदि—पर अडिग रहते हैं; जबकि विरुद्ध प्रतिक्रिया के मत के अनुसार उन्हें प्रत्येक पीढ़ी में धर्म परिवर्तन कर लेना चाहिये। अपने बालकों को रूढ़िवादिता के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये ऐसा तर्क देने वाले लोगों का जीवन ही इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि वे ही प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कितना बदल पाये हैं। हम भले ही अपने अन्तर मे यह मानें कि २+२=४, लेकिन यदि हम अपनी इस धारणा को प्रकट न करे तथा बालकों को २+२=५, सिखाने में राष्ट्र का धन व्यय करना उचित बतलाये तो समाज के लोगों की दृष्टि में हमारी धारणा यही रहेगी कि २+२=५। फिर अपने मन में हमारी धारणा कोई भी क्यों न हो, उसका इस पर कोई असर नहीं पड़ेगा। हमारी यह घोषित धारणा ही हमारी प्रभावकारी धारणा होगी। फलतः अपने-

आपको धार्मिक न बतलाने वाले लोग यदि अपने बालकों के लिये धार्मिक शिक्षा आवश्यक बतलाते हैं तो इस प्रकार वे स्वत: ही यह प्रमाणित कर लेते है कि स्वयम् उन्हीं पर उनकी धार्मिक शिक्षा की विपरीत प्रतिक्रिया नही हुई है। उनका इसके विपरीत तर्क पेश करना निरर्थक है।

कुछ लोग धार्मिक शिक्षा में आस्था न रखते हुए भी विश्वास करते है कि धर्म अपने-आपमें हानिप्रद न होने के साथ-ही-साथ कभी लाभकारक ही हो सकता है। इस सम्बन्ध मे मैं ऐसा विचार रखने वाले उदारपन्थी लोगो से सहमत नहीं हूँ। यहाँ पर रूढिवादी लोगों के विचारों से सहमत हूँ। मेरे विचार से ईश्वर की उपस्थिति तथा पारलौकिक जीवन की सत्यता-विषयक प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इन पर विचार किया जाना आवश्यक है। इस विषय मे राजनीतिज्ञ की धारणा है कि ईश्वर चाहे भले ही न हो, तिस पर भी यह धारणा जन-साधारण मे सद्-व्यवहार की प्रेरक है ही। यह उपयोगिता अपने-आपमें उसकी उपस्थिति में विश्वास करने के लिये पर्याप्त आधार है। लेकिन मैं राजनीतिज्ञ की इस धारणा से सहमत नहीं हूँ। स्वतन्त्र विचार रखने वाले लोगो का मत यह है कि धार्मिक शिक्षा के बिना बालकों को सदाचरण की शिक्षा देना सम्भव नही है। मैं ऐसे लोगों से पूछूँगा कि जब आप ही बालको से बहुधा जान-बूझकर एक बड़े महत्त्वपूर्ण विषय के बाबत कोरी झूठ लगा बैठते है तो फिर आप उनसे अच्छे व्यवहार की आशा ही कैसे कर सकते हैं ! आप क्यों किसी सरल तथा इच्छित व्यवहार के लिये बालको को गलत कारण बतलाते है ? यदि आप अपने विचारों के 'सद्-व्यवहार' को सही तर्कों के आधार पर सिद्ध नही कर सकते है तो इसका तात्पर्य यही है कि आपका विचार सही नही है। या उसमें कोई कमी है। इस सबके ऊपर यह नहीं भूला जाना चाहिये कि बालकों के आचरण पर उतना असर धर्म तथा उसकी शिक्षा का नही होता है, जितना माता-पिता के उदाहरण तथा आदेशों का। धर्म प्रमुखतया बालको मे केवल कुछ सवेगों को ही जन्म देता है। इन सवेगों का मनुष्य के कामों से सम्बन्ध कम ही होता है। काफी मामलो मे ये अनिश्चित भी होते हैं। तिस पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि प्रत्यक्ष रूप में व्यवहार से कोई सम्बन्ध न होने पर भी ये सवेग परोक्ष रूप के व्यवहार को प्रभावित करते ही हैं। लेकिन यह प्रभाव सदा धर्म-शिक्षको की इच्छा के अनुकूल नही होता। इस विषय पर मैं फिर विचार करूँगा। अस्तु, यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा।

धर्म की शिक्षा के दोषों के दो प्रमुख आधार है। सर्वप्रथम इसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कभी दोषयुक्त भी होते हैं। फिर इस शिक्षा द्वारा कभी सन्देहास्पद बातों को भी सत्य बतलाया जाता है। हो सकता है कि इन तथ्यो की सत्यता या असत्यता की जाँच करना सम्भव न हो, तिस पर भी धर्मगुरुओं का इन सन्देहास्पद तथ्यों को सत्य तथा निश्चित बतलाना झूठ का प्रचार करना ही कहा

जायेगा। उदाहरण के लिए पारलौकिक जीवन को ही ले लिया जाये—इस विषय में प्रमाण इतने कम है कि निश्चय रूप से कुछ नही कहा जा सकता। इसीलिये समझदार लोग इस विषय पर अपनी अनभिज्ञता ही प्रदर्शित करते हैं। लेकिन ईसाई धर्म पारलौकिक जीवन को सही मानता है। इस धर्म की शिक्षा पाने वाले बालकों को पारलौकिक जीवन की सत्यता के सम्बन्ध में सन्देह न करने को कहा जाता है। पाठक कह सकते है, "ऐसा मानने में हर्ज ही क्या है?" यह विश्वास सुखकर होने के साथ-ही-साथ हानि-रहित भी है। लेकिन मैं उनसे यही कहूँगा कि इसके कई दोष है, जो नीचे दिये जा रहे हैं :

प्रथमत:, कोई भी विचक्षण-बुद्धि बालक यह देखते हुए कि इस तथ्य की सत्यता सन्देहास्पद है, यदि इसमें अविश्वास प्रकट करने लगे, तो उसके अध्यापक उसे निरुत्साहित ही नही, अपितु दण्डित भी कर सकते है। ऐसे विचार रखने वाले बालकों को इस विषय पर वार्तालाप न करने को भी वाध्य किया जा सकता है। उन्हे ज्ञान तथा तर्कना-शक्ति बढ़ाने मे सहायक साहित्य के अध्ययन से भी वंचित किया जा सकता है।

द्वितीयत:, अधिकांश बुद्धिमान लोगों को ईश्वर की उपस्थिति में विश्वास नही होता। इसलिये धार्मिक-शिक्षा देने वाले विद्यालय ऐसे लोगों को अपने यहाँ अध्यापक नही रखते हैं। फलत: इन विद्यालयों मे केवल अल्प-बुद्धि या दम्भी अध्यापक ही स्थान पा सकते है। यदि वहाँ कभी बुद्धिमान अध्यापक आ भी जाते है, तो वे केवल ऐसे ही होते है, जो किसी मनोवैज्ञानिक दोष के कारण किसी समस्या के विषय मे अपना मत निर्धारित कर सकने मे असमर्थ रहते है। इस कारण उनमे अपना कोई विचार रखने की क्षमता नही होती है। इसलिए इन विद्यालयों के अधिकारियों को उन्हें अपनी सेवा में रखने में कोई बुराई प्रतीत नही होती। वस्तु-स्थिति यह है कि शिक्षक पद की कामना करने वाले लोग प्रारम्भ से ही रोमांचकारी, असाधारण तथा मौलिक विचारों को अपने मस्तिष्क से दूर रखने का प्रयास करते है। वे सकोचशील तथा रूढ़िवादी हो जाते है। इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ धर्म के क्षेत्र से होकर अन्तत: समस्त जीवन-व्यापी हो जाता है। बाल-कथा की उस बिना दुम वाली लोमड़ी की तरह वे अपने सभी शिष्यों को संकोचशील और रूढ़िवादी होने की शिक्षा देते है। अपने इसी कोटि के अध्यापन के लिये प्रसिद्ध होने पर ही उन्हे अधिकारमुक्त पदो पर उन्नति से पुरस्कृत किया जाता है। इस प्रकार धार्मिक तथा अन्य कसौटियों के द्वारा प्रत्यक्षतया या अप्रत्यक्षतया अध्यापक-पद से उन योग्य व्यक्तियो को वंचित रखा जाता है जो शिक्षार्थियों की बौद्धिकता तथा नैतिकता को जागृत कर सके।

अन्तत:, इससे बालकों की वैज्ञानिक रुचि को भी बढ़ावा नही दिया जा सकता है। धार्मिक शिक्षा के अनुसार धर्म के सिद्धान्तो को इतना अधिक पुनीत माना

जाता है कि उनकी सत्यता में सन्देह करना पापतुल्य समझा जाता है। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता। वैज्ञानिक उसी तथ्य में विश्वास कर सकता है, जिसकी सत्यता तथा निश्चितता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त प्रमाण हों। वह प्रमाणों पर ही अपने मत को निर्धारित करता है। इसकी उसे चिन्ता नहीं होती कि उपलब्ध प्रमाण उसे किधर ले जाते है। लेकिन धर्म-गुरुओ की धार्मिकता के लिये यह दृष्टिकोण उचित नही। किसी भी धार्मिक मत को प्रामाणिकता प्रदान करने तथा उसे विश्वसनीय बनाने के लिये उसका प्रचार इस ढग से किया जाता है कि वह सर्वसाधारण की सुकोमल भावनाओ पर असर करे। उसमे निहित 'महान् सत्यों' का ढोल पीटा जाता है। महान् विभूतियों का उसके पक्ष में होना प्रचारित किया जाता है। उसकी सत्यता मे सन्देह प्रकट करना वर्जित बतलाया जाता है। यह सब इसीलिये कि उस मत की सत्यता को तर्कना की कसौटी पर कसने का 'जघन्य पाप' करने के लिये कोई प्रेरित न हो सके। यह कार्य-विधि वैज्ञानिक विधि के नितान्त विपरीत है। एक समय ऐसा था, जब धर्म तर्कसंगत था। टॉमस अक्विनास सरीखे धर्मगुरुओ का विश्वास था कि ईसाइयत के आधारभूत सिद्धान्तो को भी तर्कना के आधार पर सत्य सिद्ध किया जा सकता है तथा तदर्थ जनसाधारण की सुकोमल भावनाओं के साथ खेलना आवश्यक है। सेन्ट टॉमस अक्विनास लिखित 'सुम्मा' उतना ही अधिक गहन और तर्कसंगत है, जितना वैज्ञानिक डेविड ह्यूम लिखित कोई भी ग्रन्थ। लेकिन अब वे दिन न रहे। आज के धर्माचार्य का तरीका इससे बिल्कुल भिन्न है। उसका अपने मत के प्रतिपादित करने का तरीका कुछ ऐसा है कि श्रोता या पाठक की मन:स्थिति कुछ ऐसी हो जाये तथा वह इस सीमा तक भावावेश में आ जाये कि प्रतिपादित मत की तर्कसंगतता की ओर उसका ध्यान ही न जा सके। सुकोमल भावनाओं से खेलने का प्रयास करना प्रतिपादित विषय की कमजोरी का द्योतक है। धर्माचार्यों के प्रचार के तरीके का उदाहरण ले ले। कल्पना कीजिये कि किसी धर्माचार्य को २+२=४ के विचार की सत्यता सिद्ध करनी है। उसका इसे सिद्ध करने का ढंग होगा : "इस महान् सत्य की सत्यता सन्देह से परे है। कार्यालय में बैठा लिपिक, राष्ट्रीय-आय का हिसाब लगाने मे व्यस्त राजनीतिज्ञ, टिकट बेचने की खिड़की पर बैठा लिपिक, अपने छोटे भाई को बहलाने के लिये मिठाई खरीदते हुए बालक तथा अपनी पकड़ी हुई मछलियों को गिनते हुए उत्तरी ध्रुव महासागर तटवासी सरल-चित्त एस्किमो, सभी इस सिद्धान्त की सत्यता के साक्षी हैं। क्या यह महान् एकता किसी साधारण विचार को प्राप्त हो सकती थी ? अत: क्या हम उन अविश्वासी लोगो का विश्वास करेंगे "जो हमे हमारी संस्कृति की ऐसी महान् परम्पराओ से वंचित करना चाहते है ? नही और सहस्र बार नही।" लेकिन बालक २+२=४ की सत्यता को इस वक्तृता से

सरलतापूर्वक समझेंगे या अध्यापकों द्वारा प्रयोग की जाने वाली विधियों से इसे हर कोई समझदार व्यक्ति समझ सकता है।

सभी वैज्ञानिक धारणाओं को अच्छी तरह से परख लेने के बाद ही निर्धारित किया जाता है। लेकिन धार्मिक मतों को परखने योग्य नही बतलाया जाता है। उनमे तो आँख मूँदकर ही विश्वास कर लेना स्पृहणीय है। यह दृष्टिकोण हानिकारक है। उपरोक्त कारणो के अतिरिक्त भी कुछ कारण हैं, जिनसे बालको को धर्म की शिक्षा से हानि उठानी पड़ती है। विशेषतया ईसाई देशों में बालकों को इस कारण काफी नुकसान हुआ है।

सर्वप्रथम, धर्म एक प्रतिक्रियावादी शक्ति है जो भूतकाल की अनिच्छित बातों को भविष्य में भी बनाये रखने का कारण होती है। रोमवासी द्वितीय प्यूनिक युद्ध तक नर-बलि दिया करते थे। केवल धर्म के कारण ही वे यह नृशंसतापूर्ण कार्य करते थे। उसी प्रकार आज भी हम धर्म के नाम पर कई ऐसे कार्य कर बैठते है, जिनकी हम अन्यथा कल्पना नही कर सकते। रोमन कैथोलिक चर्च अभी भी नरक मे विश्वास करता है। प्रिवी-काउन्सिल के अनुसार नरक की कल्पना की सत्यता सन्देहास्पद है। कैन्टरबरी तथा यार्क के लाट पादरियो ने प्रिवी-काउन्सिल की इस धारणा का घोर विरोध किया। एग्लिकन चर्च अब इस धारणा में विश्वास तो नही करता; लेकिन इसके बावजूद अधिकांश एंग्लिकन धर्माचार्य अभी भी नरक मे विश्वास करते है। नरक की धारणा में विश्वास का परिणाम होता है—प्रतिशोधात्मक दण्ड का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास। इसका मतलब होता है—अध्यापन मे कठोर शारीरिक दण्ड तथा कैदियों के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार। शान्ति-काल में बहुधा धर्माचार्य शान्ति के प्रबल उपासक रहते हैं तथा अपनी सारी शक्ति शान्ति को बनाये रखने के लिये प्रयुक्त करते हैं। लेकिन युद्ध प्रारम्भ होने पर वे ही धर्माचार्य उसका समर्थन करते हुए भी पाये जाते हैं।[1] ऐसा करने मे वे ईश्वर को भी अपनी ओर बतलाते हैं तथा लड़ाई में योग न देने वाले लोगो को धर्म के विपरीत आचरण के अपराध में दण्डनीय ठहराते हैं। गुलामी की प्रथा के काल मे भी इन धर्माचार्यो के उर्वर मस्तिष्क ने इस प्रथा को धर्म के आधार पर सही बतलाया। उसी प्रकार के तर्क आज पूँजीवादी शोषण के पक्ष में दिये जा रहे है। सामान्यतया परम्परागत धर्म ने समाज मे प्रस्तुत सभी अत्याचारों तथा दोषो का समर्थन किया है। इस दृष्टिकोण मे परिवर्तन केवल सर्वसाधारण की जागृति के कारण ही आ सका है।

धर्म को ग्रहण करना निस्सन्देह सुखकर है। लेकिन उसमें श्रद्धा की समाप्ति पर उसे त्यागना उतना ही दुखकर भी है। यह धर्म का दूसरा दोष है। धर्म मे विश्वास न रखने वाले के लिये बड़े साहस की आवश्यकता होती है। धर्म हमें

१. देखिये जोड रचित 'अंडर दी फिफ्थ रिब', पृष्ठ ६६।

ईश्वर तथा पारलौकिक जीवन में विश्वास करने के लिये अनुप्रेरित करता है। वह व्यक्ति को साहस की उचित शिक्षा नही देता है। किसी भी संकट के अवसर पर, जब व्यक्ति की हिम्मत कसौटी पर होती है, धर्म मे आस्था रखने वाला व्यक्ति साहस से काम न लेकर ईश्वर तथा परलोक मे विश्वास करके निष्क्रिय हो जाता है। धर्म में विश्वास रखने वाले कई युवको को विश्वास समाप्त हो जाने पर धर्म त्यागने के लिये विवश होना पड़ता है। यह उनको और अधिक दुखकर लगता है। इसकी तुलना में जो लोग किसी धर्म को ग्रहण ही नही करते हैं, उनको यह दुख झेलना नही पड़ता। ईसाई धर्म मृत्यु या जगत् से न डरने की शिक्षा देता है। इस प्रकार उससे साहस की सही शिक्षा नही मिल सकती है। धर्म डर की भावना पर आधारित रहता है। उसी भावना से बचाव के लिए व्यक्ति धर्म का आसरा लेता है। अतः धर्माचार्य डर की भावना को निरुत्साहित नही करते है। यह एक बहुत बड़ी बुराई है। केवल डर की भावना को दूर करने हेतु ही धर्म मे विश्वास करना तथा तदनुकूल आचरण करना आदर्श जीवन नही है। धर्म का व्यक्ति की भय की भावना को भड़काकर उस पर आधारित होना उसकी आत्महानि है।

धर्म के अनुसार यह जीवन आने वाले जीवन से कम महत्त्वपूर्ण है। इसमें धर्म की शिक्षा का तीसरा दोष निहित है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इस जीवन में जितने अधिक दुख भोगने पड़ते है, भविष्य जीवन में उसी अनुपात में सुखो की प्राप्ति होती है। इस दृष्टिकोण का प्रमुख उदाहरण काम के प्रति हमारे विचार हैं। इस विषय पर मैं अगले अध्याय में प्रकाश डालूंगा। लेकिन यह निर्विवाद है कि ईसाई धर्म के सच्चे अनुयायी आगे आने वाले जीवन के सुखों की प्रत्याशा में इस क्षणिक संसार के दुख-दैन्य को कुछ नही समझते है। यह दृष्टि-कोण वैभव-सम्पन्न लोगो के हित में पडता है। शायद इसीलिये अधिकतर उद्योगपतियों में धर्म के प्रति गहन आस्था विद्यमान पाई जाती है। यह समाज में उनकी लाभकर स्थिति बनाये रखने का सबसे सरल उपाय है। यदि धर्माचार्यों की इन धारणाओं को सही मान लिया जाये कि मृत्यु के बाद मनुष्य को फिर से दूसरे लोक मे जन्म लेना पड़ता है तथा इस लोक में कष्ट उठाने से स्वर्ग मिल जाता है, तो समाज-सुधारकों के तथा जन-सेवको के प्रयासों को विफल कर देने वाले लोग प्रशंसा के पात्र है। इसी तर्क के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि परलोक में सुखों के रूप में कई गुना लाभ प्रदान करने वाले तथा दुखों को दूसरों के लिये सुरक्षित रखने वाले उद्योगपतियों की निःस्वार्थता अनुकरणीय है। जिस प्रकार अपने सारे जीवन की कमाई को कुछ ही समय में दिवाला निकल जाने की सम्भावना वाले उद्योग में लगाना मूर्खता होगी, उसी प्रकार परलोक में विश्वास न करना भी एक भयंकर भूल होगी। धर्म समाज मे प्रस्तुत असमानताओ तथा अन्यायो को समर्थन ही प्रदान नही करता, अपितु

उनकी समाप्ति-हेतु प्रयास करने वालों के प्रयासों को निरुत्साहित भी करता है।

चतुर्थत:, धर्म-शिक्षा से नैतिकता की भावना पर कई बुरे असर पड़ते हैं। धर्मशास्त्रों की मान्यता पर हर समय निर्भय रहने के कारण व्यक्ति का अपने-आप पर भरोसा नही रह सकता है। वह अपनी सूझ से किसी काम को करने के अयोग्य हो जाता है। मैं कुछ ऐसे लोगो को भी जानता हूँ, जिनकी शिक्षा रोमन कैथोलिक धर्म के अनुसार हुई थी। लेकिन धर्म मे विश्वास उठ जाने के बाद उनके आचरण का स्तर इतना गिर गया कि जो किसी के लिये भी शोभा का विषय नही हो सकता। कुछ लोग कहेगे कि यह उच्च-चरित्र के लिये धार्मिक-भावना की आवश्यकता का द्योतक है। लेकिन मेरा मत इसके विपरीत है। यह इच्छा-शक्ति की कमी का उदाहरण है। यह दिखलाता है कि धार्मिक-शिक्षा इच्छा-शक्ति को कमज़ोर कर लेती है। धर्म की मान्यताओं के सम्मुख मनुष्य की इच्छाओ तथा विचारों का कोई मूल्य नहीं है। फिर यदि नैतिकता को धर्म पर आधारित किया जाय तो धार्मिक-भावना की क्षीणता के साथ-ही-साथ आचरण की शुद्धता की भावना भी समाप्त हो जाती है। सैम्मुअल बटलर लिखित पुस्तक 'दी वे ऑव ऑल फ्लेम' के नायक ने ईसाई धर्म का परित्याग करते ही अपनी नौकरानी से बलात्कार कर दिया। निस्सन्देह ऐसे कुकृत्यों के अनौचित्य के धर्म के अतिरिक्त भी कई कारण हैं। लेकिन धर्म पर आधारित आचार-शास्त्र में उन सबकी उपेक्षा किये जाने के फलस्वरूप नायक धर्म को त्यागते ही ऐसे कुकृत्य पर उतर गया। वर्तमान काल में धार्मिकता क्षीणतर होती जा रही है। इस बात की सम्भावना भी कम नही है कि आज का धर्मशील युवक कल ही उसका परित्याग कर ले। अस्तु, नैतिकता को धर्म पर आधारित करना कोई समझदारी नही।

धार्मिक शिक्षा का एक और दोष यह है कि वह बौद्धिकता को पसन्द नहीं करती है। निष्पक्ष होकर किसी चीज पर विचार करना एक अच्छा गुण है। लेकिन धार्मिक शिक्षा इसे बुरा समझती है। जटिल विषयों का गूढ मनन तथा उसकी तह में जाने के प्रयास को यह निरुत्साहित करती है। उसके द्वारा प्रशंसित लोगों मे उच्च बौद्धिकता अपवादस्वरूप ही देखने को मिल सकती है। यदि कभी कोई बुद्धिमान व्यक्ति उसके द्वारा प्रशंसित भी होता है तो वह केवल भूतकाल में भूल से की गई उसकी किसी उक्ति के फलस्वरूप ही होता है। धर्म को ही गुण समझने तथा धार्मिक लोगों की सामान्यतया निम्न-कोटि की बुद्धि होने के कारण धार्मिक शिक्षा ने बहुधा मंद-बुद्धि लोगो को शिक्षित लोगों की सत्ता का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया है। मानव-विकास की शिक्षा को अनियमित बनाया जाना इसी प्रवृत्ति का एक उदाहरण है। जहाँ तक मुझे स्मरण है—इन्जील में बौद्धिकता का प्रशंसाबोधक कोई उल्लेख नही है। धर्माचार्य यदि अन्य मामलो में नही तो कम-से-कम इस मामले मे धर्मग्रन्थो के निर्देशों का अवश्य ही अक्षरक्षः

पालन करते है। यह ईसाई शिक्षालयों में पढाई जाने वाली आचार-संहिता का एक गम्भीर दोष है।

ईसाई आचारशास्त्र का मूल दोष यह है कि वह कुछ कार्यों को उनके सामाजिक प्रभाव को देखे बिना 'पाप' तथा अन्य को 'पुण्य' की संज्ञा दे बैठता है। आदर्श आचार-शास्त्र को अन्ध-विश्वास पर आधारित नही होना चाहिये। हमारे कार्यो का हमेशा कोई असर होता है। सबसे पहले यह निश्चय हो जाना चाहिये कि हम कैसे असर की कामना करते हैं तथा किस किस्म के असर से बचना चाहेंगे। फिर यह भी देख लेना चाहिये कि ईप्सित परिणाम की प्राप्ति किन कार्यों से हो सकती है तथा किनसे उनकी प्राप्ति में बाधा पहुँच सकती है। आचार-शास्त्र को इन्हीं इच्छित कार्यो को प्रोत्साहित करना चाहिये। लेकिन प्राचीन आचार-शास्त्र इस आधार को लेकर नही चलता। उसके अनुसार जिन कार्यो की भर्त्सना की जाती है, उनकी बुराई मालूम करना मानव-बुद्धि के परे है। यह मानव-शात्र के लिये अभी तक खोज का एक विषय रह गया है। तिस पर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सफल राष्ट्रों के आचार-शास्त्र में सामान्यता कुछ तार्किकता रहती ही है। उनमें आमतौर से हानिकारक कृत्य भर्त्सना तथा लाभकारक कृत्य प्रशंसा के विषय होते है। पर यह नियम पूर्ण बारीकी के साथ काम में नहीं आता। फिर भी उनका आचार-शास्त्र अन्धविश्वास पर आधारित रहा ही है। उदाहरण के लिए पशु-पालन को लिया जाए। उनकी मान्यता है कि पशु-पालन का प्रारम्भ उपयोगिता के आधार पर न होकर धार्मिक आधार पर हुआ। मगर तथा शेर-सरीखे जानवरो को पालने वाले कबीले नष्ट हो गये तथा गाय-बकरी पालने वाले कबीले खूब फूले-फले। उसी प्रकार जब भिन्न आचार-शास्त्रो को मानने वाले कबीले आपस मे लड़े तो सामान्यतया श्रेष्ठ आचार-शास्त्र वाले कबीले ही जीतते थे। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि अन्ध-विश्वास पर आधारित आचार-संहिता बेतुके तथा हास्यास्पद नियमों से शून्य नही हो सकती। ऐसी ही कुछ हास्यास्पद बाते ईसाई आचार-सहिता मे है। अब इनकी मात्रा में क्रमशः कमी आती जा रही है। रविवार को खेल तथा मनोरजन पर प्रतिबन्ध इन्हीं अबोधगम्य बातों मे से एक है। रविवार को कोई कार्य न करने की बात समझ मे आ सकती है। लेकिन मनोरजन से भी महरूम रहने की बात बिलकुल समझ में नही आ सकती। चोरी पर प्रतिबन्ध की बात समझ में आ सकती है। लेकिन हर अवस्था में इस प्रतिबन्ध को सही बताना भी उचित नहीं है। उदाहरणार्थ, युद्धोपरान्त जर्मनी में देश-निर्वासित सरदारों की सम्पत्ति को हथिया लेना बुरा नही कहा जा सकता था। ईसाई आचार-शास्त्र के अन्ध-विश्वास पर आधारित होने का ज्वलन्त उदाहरण उसके यौन। विषयक विचार है। लेकिन यह विषय इतना विस्तृत है कि इसके लिए एक अलग अध्याय आवश्यकीय है।

९

काम-वृत्ति और शिक्षा

आजकल यौन विषयक-विचारों में वड़ी अराजकता है। सभ्य समाज यौन-नैतिकता के विषय में प्राय: कुछ ऐसे विचार रखता है, जिनसे वह अपने वालकों को अवगत कराना पसन्द नही करता। समाज में अभी भी परम्परा से एक यौन-आचार-सहिता चली आ रही है। आज भी कुछ लोग ऐसे है ही, जिनका उस संहिता की उपयोगिता में पूर्ण विश्वास है। परन्तु अधिकांश लोग एक पुरानी परिपाटी के नाते उस सहिता से अपनी सहमति प्रकट तो करते है, लेकिन दिल-ही-दिल मे उसकी उपादेयता में सन्देह करने लगे हैं। प्रथम प्रकार के लोगों को अपने विचारों के त्रुटि-रहित तथा अध्यापन-योग्य होने मे सन्देह नही। लेकिन दूसरी कोटि के लोग अपने अस्पष्ट विचारों को प्रकट करने में झिझकते हैं। अपने तथा अपने मित्रो के व्यक्तिगत जीवन में यौन-स्वातन्त्र्य के हामी ये लोग अपनी यौन-आचार-सहिता के विषय में न तो निश्चित ही है और न ही परम्परागत विचारों की खुलेआम आलोचना कर सकते है। साथ-ही-साथ वे काम-वासना की तीव्रता की शक्ति को भी महसूस करते हैं। वे जानते है कि इसके असर में आकर व्यक्ति प्राय: अपने सदाचार-विषयक विचारों के नितान्त विपरीत कार्य कर बैठता है। अत: वे चाहते है कि व्यक्ति अपनी यौन-सम्वन्ध-विषयक स्वतन्त्रता की सीमा न लाँघे। इसके लिये वे यह आवश्यक समझते है कि आचार-सहिता ईप्सित मात्रा से भी अधिक कठोर हो, ताकि व्यक्ति द्वारा उसके अतिक्रमण के वावजूद भी वह उचित मात्रा में ही यौन-स्वतंत्रता का उपभोग कर सके। पति या पत्नी के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति से सम्भोग को जघन्य अपराध समझने वाले व्यक्ति के जीवन में भी कभी कामोत्तेजना के ऐसे क्षण आ सकते है, जब वह अपनी इस आचार-संहिता से छूट पाने की इच्छा कर सकता है। प्रगाढ़ प्रेम की अवस्था में वैवाहिक सम्वन्धों से परे यौन-सम्वन्ध को उचित समझने वाला व्यक्ति कामोत्तेजना की हर अवस्था को प्रगाढ प्रेम का द्योतक समझ सकता है। दोनों पक्षों की सहमति से हर सम्भोग को उचित करार देने वाला व्यक्ति धन-पिपासा से प्राप्त स्वीकृति को उस पक्ष की दिली सहमति समझकर अपनी ही संहिता का

अतिक्रमण कर लेता है। इस प्रकार आचार-संहिता द्वारा मान्य स्वतन्त्रता से अधिक स्वतंत्रता का उपभोग किया जाता है। अतः यौन-स्वतंत्रता के विषय में इस बात को नही भूल जाना चाहिए कि व्यवहार-रूप में उपभोग की जाने वाली स्वतन्त्रता सदा आचार-शास्त्र द्वारा स्वीकृत स्वतन्त्रता से अधिक होती है।

वयस्कों के यौन-आचार-संहिता-विषयक परस्पर विरोधी विचार है। तिस पर भी आधारभूत तथा विवादास्पद बातो में पड़े बिना बालकों की यौन-शिक्षा-सम्बन्धी कुछ बातों पर साधारण सूझ तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार किया ही जा सकता है। अभी तक परिपाटी कुछ ऐसी चली आई है कि शिक्षा का भार सामान्यतया अज्ञानी, रूढ़िवादी तथा संकीर्ण विचारों के व्यक्तियो के ऊपर रहा है। सम्पन्न घरो के बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा परिचारिकाओ (नर्सों) के ऊपर छोड़ दी जाती है। वे बहुधा अविवाहित होती है। अतः उन्हे लज्जाशील व्यवहार का दिखावा करना पड़ता है। तत्पश्चात् उनकी शिक्षा का भार प्रशिक्षित अध्यापिकाओं को सौंप दिया जाता है। ये अध्यापिकाएँ भी प्रायः अविवाहित होती है। अस्तु, उनसे आशा की जाती है कि वे सुच्चरित्रवान हो। फलतः उनको भी संकोचशील, भावुक तथा यथार्थ से अनभिज्ञ होने का नाटक करना पड़ता है। इसलिये यौन-विषयक उनके विचारों में अयथार्थता रहती है। जहाँ तक अध्यापकों का प्रश्न है निश्चय ही उनसे सदा कुँआरे रहने की आशा नही की जाती है। लेकिन समाज उनसे सच्चरित्र होने की आशा अवश्य करता है। इसका तात्पर्य यही समझा जाता है कि वे यौन-विषयक प्रश्नों को वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर नही, बल्कि रूढ़िवादी विचारों के आधार पर हल करे। बहुधा अध्यापक शिशु-यौन-मनोविज्ञान को एक घृणित विषय समझकर उससे अनभिज्ञ रहना ही पसन्द करते है। लेकिन उनकी इस अनभिज्ञता की समाज को कितनी मँहगी कीमत चुकानी पड़ती है, इसे वे नही जानते।

बहुधा बच्चे दो वर्ष के भी नही हो पाते है कि उन्हें अपने गुप्तांगों को रहस्यमय, रोमाचकारी तथा अन्ध-विश्वास के दृष्टिकोण से देखना सिखा लिया जाता है। इन अंगों को अन्य अगों से कुछ भिन्न रूप में देखने को कहा जाता है। उनको गुप्तांगजनित आवश्यकताओं (लघु शका, आदि) के विषय में कानाफूसी या तुतलाहट से बोलना सिखाया जाता है। गुप्तांगों को अस्पृश्य समझा जाता है। यदि उन्हें इनको छूते हुए देखा जाता है तो परिणामस्वरूप उन्हे इस व्यवहार के अनौचित्य पर लम्बी-चौड़ी वक्तृता सुननी पड़ती है। मैं कुछ ऐसे पुरुषों तथा स्त्रियों को जानता हूँ, जिनको बचपन में गुप्तांगों को छूने के जघन्य अपराध के फलस्वरूप अपनी माताओं की यह मनोकामना सुननी पड़ी कि उनका (बच्चो का) इस विश्व में जन्म न लेना ही बेहतर रहता है। तिस पर भी मुझे दुःख है कि इन घुड़कियो के बावजूद वे (स्त्री-पुरुष) परम्परागत सच्चरित्रता विषयक-विचारो के

अनुरूप अपने-आपको न बना सके। हस्त-मैथुन को ही ले लीजिये···हर कहीं इसे घृणित समझा जाता है। बालकों को इसके विषय में सख्त चेतावनी दी जाती है, तिस पर भी यह बालकों में एक सर्वव्यापी आदत है। फ्रायड रचित साहित्य को पढ़ने से पता चलता है कि जर्मन बालकों को यह कहकर डरा दिया जाता था कि हस्त-मैथुन करने वाले बालकों का सारस आकर गुप्तांगच्छेद कर लेता है। यदि कहीं वे किसी बालिका को नंगी देख लेते तो उनका विश्वास हो जाता कि वह भी हस्त-मैथुन करने के परिणाम को भुगत रही है। मनोविश्लेषणात्मक साहित्य ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। लेकिन दुःख यही है कि जिन लोगों के लिये यह साहित्य सबसे अधिक उपयोगी होता तथा जिस साहित्य से उनकी अनभिज्ञता समाज के लिये हानिकारक हो सकती है, वही अध्यापक इसे सबसे अधिक घृणित तथा अस्पृश्य मान बैठे है। वयस्क जीवन मे मानसिक खराबियों का एक प्रमुख कारण बचपन में हस्त-मैथुन के विरुद्ध दी जाने वाली धमकियाँ तथा चेतावनियाँ है। अध्यापक छात्रों से प्रायः कहते हैं कि हस्त-मैथुन का परिणाम भविष्य जीवन मे मानसिक विक्षिप्तता होती है। पर सत्य यह है कि उलटे यह धमकी ही विक्षिप्तता का कारण बनती है। जहाँ तक हस्त-मैथुन का प्रश्न है, यदि वयस्क उसकी उपेक्षा कर दें तथा बालकों के मस्तिष्क मे विभिन्न प्रकार के भय पैदा न करें तो यह अपने-आपमें कोई विशेष हानि नहीं करता। विशेषतः बचपन के लिये तो यह बात और भी अधिक सही है।

बालकों के जन्म के विषय में जो गोपनीयता बरती जाती है, वह उनके लिये कई रूपों मे हानिकर होती है। सर्वप्रथम, इससे बालकों में यह गलत धारणा घर कर जाती है कि कुछ बातों का ज्ञान अच्छा और अन्य बातों, विशेषकर रुचिकर बातो, का ज्ञान बुरा होता है। यह गलत है। किसी भी अच्छे आचार-शास्त्र का यह आधारभूत सिद्धान्त होना चाहिये कि कोई भी ज्ञान बुरा नहीं है तथा इस नियम का कोई अपवाद नही है। बालक जब किसी विषय में अपनी स्वाभाविक रुचि प्रकट करता है तो उसे बहुधा डरा-धमका कर निरुत्साहित किया जाता है। फलस्वरूप बालक मान लेता है कि केवल अरुचिकर ज्ञान ही अर्जनीय है। और रुचिकर ज्ञान सदा दोषयुक्त होता है। इस प्रकार वैज्ञानिक-जिज्ञासा तथा सद्‌गुणों में परस्पर विरोध समझा जाता है। फल यही होता है कि सद्‌गुणों तथा सच्च-रित्रता की खातिर जिज्ञासा, और दूसरे शब्दों में बौद्धिकता, की बलि दी जाती है। बालक-सच्चरित्र बनने की होड़ मे मोटू बन जाता है। बालिकाओ को गर्भ-धारण विषयक ज्ञान से वंचित रखा जाता है। यह बुरा है। इससे उनमें हीन-भावना घर करने लगती है। वे महसूस करती है कि वे हर बात में बालकों से हीन हैं तथा स्वयम् बालक न होने के अपने दुर्भाग्य को कोसती रहती हैं। लेकिन मैंने देखा कि शिशु-प्रजनन-सम्बन्धी ज्ञान-प्राप्ति पर बालिकाओं की वह हीन-

भावना समाप्त हो जाती है। उन्हें बालिका होने में आत्मानन्द की अनुभूति होती है तथा नारी-जाति के प्रति गौरवान्वित महसूस करती हैं। बालकों को भी प्रजनन में पुरुष के योग से परिचित न कराया जाना उसी प्रकार दोषपूर्ण होगा, जिस प्रकार बालिकाओं को गर्भधारण के विषय में अनभिज्ञ रखना। इसके अतिरिक्त पिता के प्रति विशेष श्रद्धा रखने वाले बच्चों को अपने जन्म मे माता और पिता दोनों के योग का ज्ञान होता है तो उन्हें अतीव प्रसन्नता की प्राप्ति होती है तथा वे माँ के प्रति भी उसी प्रकार श्रद्धा की अनुभूति करने लगते है। बालकों की स्वाभिमान की भावना को बढ़ाने के लिए भी उनको शिशु-प्रजनन मे पुरुष के योग का ज्ञान होना जरूरी है।

बालकों को यौन-ज्ञान से वंचित रखने का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि वे समझ जाते हैं कि उनके माँ-बाप उनसे झूठ बोलते है। बालक सत्य की खोज इतनी जल्दी कर जाते हैं कि माँ-बाप भी उसकी कल्पना नही कर सकते। एक बार सत्य की ढूंढ कर लेने पर वे अक्सर माता-पिता से कई प्रकार के प्रश्न पूछते रहते है। वे समझ जाते है कि माता-पिता कहाँ पर उनको गलत सूचना दे रहे हैं। नीतिज्ञों (मोरैलिस्ट्स) के अनुसार बालकों से झूठ बोलना अनिच्छित नहीं है। लेकिन यह बहुत बुरी बात है। किसी भी आचारशास्त्र के अन्तर्गत इसे प्रोत्साहित नही किया जाना चाहिये।

यौन-विषयक ज्ञान कराते समय इस बात का ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि ज्ञान कराने वाले के व्यवहार मे पूर्ण स्वाभाविकता बनी रहे। उसकी वाणी, उसका उतार-चढ़ाव तथा ढंग ठीक वैसे ही हो जैसे किसी सामान्य विषय पर बात करते समय रहे। बातचीत में किसी प्रकार का घुमाव-फिराव न होकर सरलता तथा सादगी हो। कुछ लोगों के मतानुसार ऐसा ज्ञान कराने के पूर्व बाल-मन को उसके लिये तैयार किया जाना चाहिये। इसके लिये भूमिका के रूप में बालकों को पुष्पों के अभिसिंचन तथा मछलियों की केलि-क्रीडा आदि के बाबत बतला लिया जाना चाहिये। तत्पश्चात् बालकों को यौन-विद्या तथा उनके माता-पिता के सम्बन्धों के बारे में बतला दिया जाये। लेकिन बालक इस लम्बी-चौड़ी भूमिका का यही अर्थ लगायेंगे कि माता-पिता के यौन-सम्बन्धों मे कोई दोष है, जिसके कारण उसकी आवश्यकता पड़ी। जिन लोगों का बचपन ही कई प्रकार के प्रतिबन्धों में जकड़ा बीतता है, वही बहुधा ऐसी धारणाएँ रखते है। यदि बालक का मन बड़े लोगों की ढकोसलेबाजी आदि से दूषित न हो गया हो तो वह यौन को भी उसी रूप में लेता है, जिस रूप में किसी भी अन्य विषय को। उसके लिये गुप्तांगों और हाथों में कोई अन्तर नही रहता। अतः बालक की इस सरलता को बनाये रखने तथा उसकी जिज्ञासाओं की पूर्ति का प्रयास किया जाना चाहिये। अच्छा तो यही होगा कि माता-पिता स्वयं बालक की यौन-विषयक जिज्ञासाओं

की पूर्ति कर लें। लेकिन यदि वे अपने पूर्व-संस्कारो तथा पुराने विचारों के कारण ऐसा न कर सकें, तो इस काम को ऐसे व्यक्तियों के ऊपर छोड़ दें जो यौन-संबंधी ज्ञान को उसी प्रकार दे सकें, जिस प्रकार किसी भी अन्य विषय के ज्ञान को। तरुणावस्था मे प्रवेश करने से पहले बालक यौन-सम्बन्धी ज्ञान को साधारण तथा स्वाभाविक रूप में ले सकता है। उसके लिये इस ज्ञान तथा अन्य विषयों के ज्ञान में कोई अन्तर नही रहता। यही ईप्सित आदर्श भी है। लेकिन किशोर अवस्था प्राप्त कर जाने पर बालक को यौन-ज्ञान-प्राप्ति पर उत्तेजित न होने देना जरा कठिन है। तिस पर भी यदि बाल-मन सरल हो तथा उसमे विकृत भावनाओं का प्रवेश न हो गया हो, तो यह कार्य उतना कठिन नही रह जाता। लेकिन जहाँ बालक को प्रतिबन्ध-जटिल जीवन बिताना पड़ता है तथा उसके मन में भय की भावना बैठा दी जाती है, यह कार्य और अधिक कठिन हो जाता है।

सयाने युवक-युवतियो की यौन-सम्बन्धी समस्याओं का हल और अधिक दुरूह होता है। अधिकतर लोगो का विचार यही रहता है कि इस अवस्था में पूर्ण सयम का व्यवहार होना चाहिये तथा इससे कोई हानि नही हो सकती है। इस-लिये इग्लैण्ड में इस अवस्था के युवक-युवतियों को अलग रखने की चेष्टा की जाती है, ताकि वे पर-लैंगिक सम्भोग सुख का अनुभव न कर सके। होता भी यही है कि चन्द अपवाद-स्वरूप युवक-युवतियों को छोड़कर सभी इस अनुभव से वचित रह जाते है। लेकिन यह उन्हें स्व-लैंगिक मैथुन की ओर ले जाता है। कुछ संकोचशील युवक-युवती, जो इतनी हिम्मत नहीं रखते है, हस्त-मैथुन से ही संतोष कर लेते हैं। युवाओ से बहुधा कहा जाता है तथा वे विश्वास भी कर लेते है कि अप्राकृतिक सम्भोग हानिकारक तथा अनिच्छित होता है। समाज में इसे दंडनीय समझा जाता है। फलत: युवा को चोरी-छिपे अपनी वासना की पूर्ति करनी पड़ती है। जिन्हे यह करते हुए पकड़ा जाता है, उन्हे दंड भुगतना पडता है। लेकिन जो पकड में नही आ पाते है, उनको भी स्वय अपनी हानि करने की भावना के कारण आत्मग्लानि तथा पकडे जाने पर दड के भय की अनुभूति परेशान किये रहती है। पब्लिक स्कूलों मे बालको को इतना अधिक व्यस्त तथा थकित रखा जाता है कि वे काम-वासना की अनुभूति ही न कर सकें। लेकिन इससे उनकी बौद्धिक प्रगति रुक जाती है। इस प्रकार वर्तमान व्यवस्था के निम्न दोष है: प्रथमतः युवा मन मे भय की भावना बैठ जाती है। द्वितीयतः, इससे काफी युवक-युवती छलपूर्ण व्यवहार करने के आदी हो जाते है। तृतीयत:, यौन-विषयक विचार तथा चिन्तन अश्लील तथा घृणित समझे जाने लगते है। चतुर्थत:, वैज्ञानिक जिज्ञासा पापपूर्ण समझी जाने के कारण समाप्त हो जाती है। अन्तत:, विश्राम की कमी बौद्धिक ह्रास में प्रतिफलित होती है।

इन दोषों का निराकरण केवल वर्तमान आचार-सहिता में आमूल-चूल

परिवर्तन से ही सम्भव है। मौजूदा समाज-व्यवस्था में प्रायः तरुणाई के आगमन के काफी अर्से बाद शादी होती है। आदर्श तो यही है कि इस पूरे समय तक संयम से काम लिया जाये। लेकिन व्यावहारिक रूप में केवल अपवादस्वरूप चंद युवा ही ऐसा कर सकते हैं। व्यक्ति को समाज के इस आदर्श का उल्लंघन करना पड़ता है। इससे समाज और व्यक्ति दोनों की हानि होती है। वेश्यागमन कई दृष्टियों से बुरा है सबसे पहले इससे गुप्तांगों की बीमारी फैलने की संभावनाएँ रहती हैं। दूसरे, समाज में वेश्याओं को नीची निगाहों से देखे जाने के कारण वेश्यावृत्ति एक बुरा पेशा है। अन्ततः, पुरुष के सम्भोग के प्रथम अनुभव का प्रणय की भावनाओं से ओत-प्रोत न होकर केवल धन देकर प्राप्त सुख की भावना से प्रेरित होना भविष्य में वैवाहिक सुख में भी बाधक होता है। इस प्रकार पुरुष अपनी स्त्री को या तो देवी समझता है या निरी वेश्या। दोनों अवस्थाएँ वैवाहिक जीवन के सुख में बाधक होती हैं। तरुणाई आने पर हस्त-मैथुन यद्यपि उतना हानिकारक नहीं होता है, जितना पुराने रूढ़िवादी विचार के लोग सोचते हैं। तथापि इसमें कुछ दोष हैं ही —यह व्यक्ति को आत्म-केन्द्रित बना देता है। वह साहसी कार्यों को करने के अयोग्य हो जाता है। कभी-कभी वह प्राकृतिक मैथुन के अयोग्य भी हो जाता है। इससे उसका वैवाहिक जीवन दुःखमय हो जाता है। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी सही है कि यदि युवक-युवतियों को एक ही साथ रखा जाये तो यह सामीप्य युवतियों द्वारा इसी उम्र में गर्भ धारण करने में प्रतिफलित होगा। इससे उनके अध्ययन में बड़ी बाधा पड़ेगी। यह भी इच्छित नहीं है। अतः मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि वर्तमान आचार-संहिता के रहते हुए इस समस्या का कोई हल सम्भव नहीं है। हो सकता है कि कभी वह समय आये, जब कि समाज अपनी आचार-संहिता के द्वारा युवाओं में पैदा की गई मानसिक विकृतियों के द्वारा होने वाली हानियों के प्रति जागरूक होगा और उनको भी वैसी ही आजादी देने के लिये बाध्य होगा जो समोआ तथा अन्य प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में युवाओं को प्राप्त होती है। उस अवस्था में युवक-युवतियों को गर्भ-निरोध तथा गर्भपात की शिक्षा देनी आवश्यक हो जायेगी। परन्तु यह न समझा जाये कि मैं ऐसी व्यवस्था का पक्षपाती हूं। यदि संयम-पूर्ण जीवन बिताने की आवश्यकता केवल बीस वर्ष की वय तक ही हो तो हो सकता है कि यही विकल्प श्रेयस्कर हो। यह युवक-युवतियों को अधिक कठिन भी प्रतीत नहीं होगा। यहाँ पर न्यायमूर्ति लिन्डजे द्वारा प्रतिपादित विकल्प- सहपाठी दम्पती— भी उल्लेखनीय है। इसके अनुसार विश्वविद्यालयों के छात्र को अस्थायी वैवाहिक-जीवन व्यतीत करने की छूट दी जानी चाहिए। इसकी सफलता के लिये सन्तति-निरोध का ज्ञान व व्यवस्था आवश्यक है। यदि यह सम्भव हो सके तो इस प्रकार विश्वविद्यालयों का बौद्धिक तथा नैतिक-स्तर काफी ऊँचा हो जायेगा। काम-

वासना की अतृप्ति के कारण युवाओं की मानसिक शान्ति समाप्त हो जाती है। उनके मन में विकार उत्पन्न हो जाते है। अपनी काम-पिपासा की तुष्टि के लिये उन्हें अप्राकृतिक तथा अनिच्छित तरीके अपनाने पड़ते है। इस प्रकार उनके समय, श्रम व भावनाओ का अपव्यय होता है। सहपाठी-दम्पती होने से ये खराबियाँ दूर हो जायेंगी। इससे युवा अपने अध्ययन में और अधिक दत्तचित्त होकर लग सकेंगे।

तरुणावस्था से पूर्व यौन-शिक्षा देने के लिये किसी यौन-आचार-शास्त्र का ध्यान रखना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार बालको को मानसिक स्वास्थ्य-रक्षा की शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार यह ज्ञान भी दिया जा सकता है। लेकिन तरुणाई के प्रवेश के पश्चात यौन-शिक्षा इतनी सरल नही रह जाती। उस समय की शिक्षा से उसका व्यवहार शीघ्र प्रभावित होता है। अस्तु, युवा को शिक्षा देने मे इस बात का ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि उसका यौन-विषयक आचरण कैसा होना चाहिये। इसके लिये यौन-आचार-शास्त्र के विषय में हमारे विचार सुस्पष्ट होने चाहिये। अधिकतर जातियो के यौन-आचार-शास्त्र तीन धारणाओं पर आधारित है। प्रथमत:, पैतृक वशानुक्रम पत्नी की पति-परायणता पर आधारित है। अत: पत्नी के पातिव्रत्य को बहुत आवश्यक समझा जाता है। द्वितीयत:, ईसाइयत के अनुसार दाम्पत्य सम्बन्ध के बाहर सम्भोग पाप है। इसलिये इस सम्बन्ध के बाहर मैथुन वर्जित समझा जाता है। तृतीयत:, अब नारी और पुरुष की समानता की आवाज उठने लगी है। इसका भी आचार-शास्त्र पर काफी असर पड़ रहा है। इनमे से प्रथम धारणा सबसे अधिक पुरानी है। जापानी समाज में इस धारणा को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। अन्य दो धारणाओं में उनकी विशेष आस्था नही। वह समाज यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्धों से स्वतन्त्र है। उसके यौन आचार-शास्त्र में अन्ध-विश्वास के लिये कोई स्थान नही। जापान के लोग लिंगों की समता मे विश्वास नही करते। नारी पूर्णतया पुरुष के अधीन है। पैतृक परिवार प्रथा अति दृढ़ है। लेकिन इसका आधार कोई सूक्ष्म नैतिक सिद्धान्त न होकर केवल नारी की दासता है। बालकों को यौन-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने, बातचीत करने तथा खेल करने की इस हद तक छूट रहती है कि कोई भी यूरोपवासी इससे आश्चर्यचकित हुए बिना नही रह सकेगा। वहाँ आचार-शास्त्र केवल नारी के लिये है, जिसे पुरुष अपनी शक्ति के बल पर पूर्ण रूप से काम में लाने के लिए बाध्य करता है। यह प्राचीन व्यवस्था है। ईसाइयत के उद्भव के पूर्व सभी सभ्यताओं मे यही व्यवस्था थी।

ईसाइयत के प्रारम्भ ने इस भावना को बलवती बनाया कि काम मूलरूप में ही घृणित है। जाति को बनाये रखने हेतु ही मैथुन क्षम्य है। वैवाहिक जीवन में भी सयम को सम्भोग से अधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है। लेकिन मेरा कहने का

यह तात्पर्य नहीं कि ईसाई धर्म के उद्भव के पूर्व यह भावना नही थी। मनुष्य स्वभाव में ही कुछ ऐसी बात है जो काम को अच्छी निगाहो से नही देखती। ईसाइयत ने केवल मनुष्य के स्वभाव की इस विशेषता को और अधिक विकसित रूप प्रदान किया। यद्यपि यहूदी समाज मे भी यौन-प्रतिबन्धों की बहुलता थी, तथापि उसमें प्रकटत: काम को घृणित नहीं समझा जाता था। ऐपोक्राइफा में इस भावना की केवल झांकी-मात्र मिलती है। मानव-इतिहास मे ईसाई-आचार-शास्त्र ही सर्वप्रथम पुरुष और नारी दोनो के लिये था। लेकिन व्यावहारिक रूप में नारियो पर इसे कठोरता के साथ प्रयोग में लाया गया तथा पुरुषो द्वारा इसका उल्लघन भी क्षम्य समझा गया। इस प्रकार व्यावहारिक रूप मे ईसाई यौन-आचार-सहिता तथा प्राचीन आचार-सहिताओ मे केवल यही भेद रह गया कि अब काम को घृणित दृष्टि से देखा जाने लगा।

लिग-भेद के सिद्धान्त की समाप्ति के साथ यह व्यवस्था भी समाप्त हो गई। फिर दो विचार-धाराएँ चल पड़ी। नारी के अधिकारों के प्रणेताओ के अनुसार नारी की पति-परायणता तो इच्छित थी ही, पर साथ-ही-साथ पुरुष को भी पत्नी-परायण होना चाहिये था। लेकिन आज के स्त्री-अधिकारों के हिमायती इस बन्दिश को भी पसन्द नही करते। वे चरित्र की उच्चता के लिये परेशान नही है। वे नारी को भी पुरुष की तरह स्वच्छन्द होने का अधिकार दिलाना चाहते है। यदि पुरुष आचार-सहिता की पहुँच के बाहर रहकर अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए स्वतन्त्र है, तो नारी को भी यह सुविधा क्यो न दी जाये ? यदि यह मान लिया जाये तो पितृतन्त्र की प्रथा की बुनियाद ही ढह जायेगी और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जब समाज-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन किया जाये। इस प्रकार एक बड़ी विषम परिस्थिति सामने आ जायेगी। पुरुष को आज तक तुलनात्मक तौर से अधिक स्वतन्त्रता उपलब्ध थी। अत: उसको ईसाई आचार-संहिता की बन्दिशें अधिक खलती थी। यदि नारियो को भी वही स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाये तो उन्हे भी आचार-सहिता के अनुकूल व्यवहार करना कठिन प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार आचार-संहिता का टिकना ही सन्देहास्पद हो जायेगा। फिर इसके साथ-ही-साथ यह भी न भूला जाये कि कुटुम्ब इतनी अधिक प्राचीन संस्था है कि पुरुष उसमें किसी प्रकार का भारी परिवर्तन कभी सहन नही करेगा। इस विषम परिस्थिति का केवल एक ही हल सम्भव दिखाई देता है—पिता का स्थान राज्य ले ले। यह व्यवस्था साम्यवादी समाज में सरलता से सम्भव हो सकती है। लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उसकी उत्तराधिकार में प्राप्ति-प्रधान समाज-व्यवस्था में यह कठिनता से सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार यौन-नैतिकता से सम्बन्धित है। जिन बालको के प्रति पुरुष का पितृत्व सन्देहास्पद हो, उनकी खातिर उससे परिश्रम करने की आशा कम ही की जा सकती

है। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पितृतन्त्र के लिये नारी की पति-परायणता आधार-तुल्य है। लेकिन केवल नारी से ही चरित्र की उच्चता की आशा करना लिंग की समानता के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। साथ-ही-साथ प्रतिबन्धों तथा दण्ड के बिना चारित्रिक उच्चता की आशा करना भी निरर्थक ही होगा। अतः मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचता हूँ कि इस समस्या का एकमात्र हल यही है कि पिता के महत्त्व में धीरे-धीरे कमी आ जाये तथा राज्य बालकों के लालन-पालन का भार ग्रहण कर ले। मैं समझ नहीं सकता कि यह हितकर होगा या नहीं। अभी तक पिता की बालकों के प्रति वात्सल्य की भावना तथा बालकों का पिता के प्रति श्रद्धा भाव का सभ्यता पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। नई व्यवस्था के उपरान्त सभ्यता का स्वरूप क्या होगा उसकी मैं कल्पना नहीं कर सकता। लेकिन यह तो निश्चित है ही कि भविष्य में बालकों के प्रति राज्य का उत्तरदायित्व बढ़ता ही जायेगा। इसका परिणाम शुभकर होगा या अशुभकर—यह तो भविष्य ही बतलायेगा।

यौन आचार-संहिता के विषय में नये विचारों के कारण कई समस्याएँ तथा विषमताएँ पैदा हो गई हैं। परन्तु बालकों की शिक्षा से सम्बन्धित लोग इनकी उपेक्षा कर लेते हैं। साधारण वयस्क व्यक्ति के लिये प्रचलित आचार-संहिता के अनुकूल व्यवहार न करना क्षम्य समझा जा सकता है। लेकिन जिन लोगों पर बालकों की देख-रेख तथा शिक्षा-दीक्षा का भार है, उनके द्वारा किसी प्रकार की त्रुटि अक्षम्य समझी जाती है। फलतः समाज में काफी हद तक आचरण की स्वतन्त्रता की उपस्थिति के बावजूद शिक्षा-संस्थाओं में आचार-शास्त्र के कठोर पालन पर बड़ा ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार शिक्षालयों का वातावरण उस समाज के वातावरण से, जिसके भावी सदस्यों की तैयारी का उन पर भार रहता है, बिलकुल भिन्न होता है। उसी प्रकार लिंग-समानता के विचार तथा पैतृक परिवार की संस्था के बीच मेल बिठाना भी कठिन है। अस्तु, जब तक समाज के दृष्टिकोण तथा उसकी संस्थाओं में पूर्ण परिवर्तन नहीं हो जाता है, इन समस्याओं का कोई स्पष्ट हल ढूंढ निकालना सम्भव नहीं दिखाई देता। तिस पर भी आचार-संहिता के सामान्य सिद्धान्तों तथा काम के प्रति अन्ध-विश्वासपूर्ण दृष्टिकोण के परित्याग के आधार पर कुछ निष्कर्षों पर पहुँचा ही जा सकता है।

बालकों से व्यवहार करने में इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि उनमें कोई झूठी बात न कही जाये। यह भी स्पष्टतया मान लिया जाना चाहिये कि प्रत्येक तथ्य या उक्ति को तर्कना या वैज्ञानिक विश्लेषण की कसौटी पर कसा जा सकता है। आचार-शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य पैतृक परिवार को बनाये रखना भले ही क्यों न हो, तिसपर भी प्रजनन में प्रतिफलित न होने वाली मैथुन की क्रियाओं को पापमय कैसे माना जा सकता है—यह समझ में नहीं आता है।

इन क्रियाओं को न केवल ईसाई आचार-संहिता के ही अनुसार भर्त्सनीय समझा जाता है, अपितु दण्ड-संहिता द्वारा भी दण्डनीय माना जाता है। यह एक अजीव बात है। हम यह कभी न भूलें कि कोई आचरण कितना ही अनुकरणीय क्यों न हो, उसे कठोर अनुशासन तथा भय के द्वारा कभी काम मे न लाया जाये। ये कुछ सिद्धान्त हैं जो बालक की नैतिक शिक्षा मे ध्यान मे रखे जा सकते है। जहां तक अन्य सिद्धांतों का प्रश्न है, उनको निर्धारित करने के लिये हमे अभी कुछ और समय तक रुकना पड़ेगा। आज समाज इतनी द्रुत गति से परिवर्तित हो रहा है कि निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है।

इस बात का खयाल रखना बहुत आवश्यक है कि बालको की उपस्थिति में हमारा व्यवहार ऐसा हो कि वे यह गलत धारणा न बना ले कि काम मूलरूप में ही घृणित है तथा उसके विषय में हमारे सभी व्यवहार गोपनीय होने चाहियें। काम एक रुचिकर विषय है। मनुष्य का उस पर चिंतन या वार्तालाप स्वाभाविक ही है। लेकिन आज बालकों के लालन-पालन और उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिये उत्तर-दायी लोगों के द्वारा यह स्वाभाविक जिज्ञासा भी घृणित तथा अनिच्छित समझी जाती है। फलतः बालकों को इसके विषय मे सोचना या बातचीत करने से रोका जाता है। लेकिन परिणाम इसके बिलकुल विपरीत होता है। वे वयस्कों की काना-फूसी, उनके व्यवहार तथा अपनी कल्पना के आधार पर यौन-विषयक इतनी अधिक जानकारी प्राप्त कर लेते है कि जितना वे अन्यथा प्राप्त करने की कदापि इच्छा न करते। उनको इस विषय में सोचने और बात करने में उतना ही रस मिलता है, जितना ऐडम और ईव को निषिद्ध फल के रसास्वादन में मिला होगा। जानकारी तो वे किसी-न-किसी प्रकार प्राप्त कर ही लेते है, लेकिन इसका बुरा परिणाम यह होता है कि उनकी यह जानकारी बहुत ही विकृत तथा अशुद्ध होती है। कामशास्त्र आनन्द का एक अखण्ड स्रोत है। यह वह काव्य है जो हमें कभी हृदय की गुदगुदी का रस प्राप्त करने में सहायक हो सकता है तो कभी ज्ञान की गहन गरिमा की झाँकी दिखा सकता है। लेकिन हमारे चरित्रवादी अध्यापक ज्ञान तथा आनन्द के इस अजस्र स्रोत की अवहेलना करते हैं। उनके अनुसार काम का केवल नीरस और अनाकर्षक ज्ञान ही इच्छित है तथा अन्य ज्ञान, जिससे रस-प्राप्ति सम्भव हो, घृणित तथा पापपूर्ण है। नीरसता की यह विचारधारा जीवन के रस, आनन्द और सुन्दरता को समाप्त कर देती है तथा उसे नीरस, अनाकर्षक और भारप्रद बना लेती है। वैज्ञानिक तथा जिज्ञासा कल्पना-शक्ति समाप्त हो जाती है और रह जाते है—पाखण्ड और संकीर्णता। निस्सन्देह उन्मुक्तता का वातावरण भी दोषपूर्ण हो सकता है। लेकिन—पुष्पराज गुलाब काँटों के बीच ही खिलता है। जीवन के सुख का रसास्वादन उसके दुखों का कड़वा घूँट पीने के बाद ही किया जा सकता है। केवल मृत्यु ही काँटों, दुखों और दोषों से रहित है। हम जीवन की कामना करते हैं या मौत की, इसका निर्णय पाठक स्वयं कर लें।

१०

शिक्षा और देश-प्रेम

व्यक्ति की कई इच्छायें होती हैं। कुछ इच्छाएँ ऐसी होती हैं, जिनकी प्रतीति वह दूसरों के सहयोग के विना कर लेता है। लेकिन अन्य की पूर्ति के लिये उसे दूसरे व्यक्तियो का सहयोग करना पड़ता है। उदाहरण के लिये उसकी धन-लिप्सा को लिया जाये इसकी पूर्ति के लिये उसे प्रायः अन्य व्यक्तियो या समूहों से सहयोग करना पडता है। इन समूहो का रूप धन-प्राप्ति के ढग पर निर्भर करता है। एक ही व्यवसाय करने वाली दो फर्म अधिकतर प्रतिद्वन्द्विता की भावना से अनुप्रेरित होती है। लेकिन जहाँ अपने व्यवसाय के लिये सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रश्न होता है दोनो एक होकर काम करती हैं। केवल धन-प्राप्ति के लिये ही संगठनों या समुदायो की स्थापना नही की जाती है। मठ, भाइयों के संगठन, विद्वद्-मण्डली, प्रभृति कई प्रकार के संगठन विभिन्न भावनाओं के अनुप्रेरित होते हैं। ये भावनाएँ मुख्यतया तीन होती हैं—रुचि या स्वार्थ की समता, विचार-एकता और खून की एकता। रॉथ्सचाइल्ड परिवार की एकता खून के सम्बन्ध पर आधारित थी। इस सगठन के लिये किसी अधिनियम की आवश्यकता नही थी। इसके विना भी वे परस्पर विश्वास कर सकते थे। यूरोप के करीब सभी आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानो में किसी-न-किसी रॉथ्सचाइल्ड की उपस्थिति ने उनके इस संगठन की सफलता को चार चाँद लगा लिये। विचारों के एकता-जनित सहयोग का अच्छा उदाहरण क्वेकर लोगो द्वारा महायुद्ध के बाद लोकोपकारी कार्यों का किया जाना है। विचारों की समता के कारण ही उन लोगों के लिये मिलकर ऐसे कार्यों का करना सम्भव हुआ। समान स्वार्थों को लेकर एक होने के उदाहरण ज्वायन्ट स्टाफ कम्पनी तथा श्रमिक-संघ हैं।

व्यक्तियों से समूह बनता है। वे किसी विशेष उद्देश्य को लेकर संगठित होते हैं। समूह वे सभी सदस्यों का यही ध्येय उभयनिष्ठ होता है। इस प्रकार समूह की प्रवृत्ति सरल होती है। इसके विपरीत व्यक्ति की कई रुचियाँ, ध्येय तथा स्वार्थ होने के कारण उसकी प्रवृत्ति जटिल होती है। उदाहरणार्थ—सोसायटी फार साइकिकल रिसर्च (मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान समिति) का एकमात्र ध्येय अपने क्षेत्र

को ढूंढ़ करना ही है; जबकि हो सकता है उसके व्यक्तिगत सदस्यों की रुचि कई अन्य बातों में भी हो। फेडरेशन आफ ब्रिटिश इन्डस्ट्रीज (ब्रिटिश औद्योगिक संघ) को केवल अंग्रेजी उद्योगों की चिन्ता होगी, जबकि उसके सदस्य खेलने या क्रिकेट का खेल देखने के भी इच्छुक हो सकते है। परिवार को केवल संपूर्ण परिवार की सुख-सुविधा की आकांक्षा होगी तथा तदर्थ किसी भी सदस्य के व्यक्तिगत हितों को कुर्बान किया जा सकेगा।

यदि समान आकांक्षाओं वाले व्यक्ति सगठित हों तो राजनीतिक दृष्टिकोण से वे असंगठित लोगों की तुलना में अधिक शक्तिशाली होते हैं। रविवार के दिन भी सिनेमा जाने के इच्छुक लोग काफी बडी संख्या में होने पर भी असंगठित होने के कारण राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वहीन है। उनकी तुलना मे सब्बाटेरियन (रविवार को विश्राम करने विषयक ईसाइयत की व्यवस्था को मानने वाले) तथा सिनेमाघरों के मालिक संख्या में कम होने पर भी केवल संगठित होने के कारण अधिक प्रभावशाली है। प्रथम के अनुसार रविवार को सिनेमाघर बन्द रहने चाहिये, जबकि सिनेमाघरों के मालिक ऐसा नही होने देना चाहते। इस प्रकार एक विवाद उठ खड़ा होता है, जिसमें केवल चन्द सब्बाटेरियन तथा सिनेमाघरों के मालिकों के विचारों को ही प्रतिनिधित्व मिलता है और बहुसख्यक जनता की राय का कोई खयाल नहीं किया जाता है।

एक ही व्यक्ति कितने ही संगठनों का सदस्य हो सकता है। ये संगठन लाभकारी, हानिकारी या दोषरहित हो सकते है। कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति ब्रिटिश फासिस्ट दल, अपने गाँव के फुटबाल क्लब और मानवशास्त्र अनुसन्धान समिति का सदस्य है। उसकी तीसरी सदस्यता प्रशंसनीय, द्वितीय निर्दोष तथा प्रथम भर्त्सनीय है। इस प्रकार वह स्वयम् तो अच्छाइयों व बुराइयों का मिश्रण है, लेकिन उसके संगठनों का केवल एक गुण – अच्छा, बुरा या निर्दोष—है। इस प्रकार किसी संगठन की अच्छाई या बुराई प्रमुखतया उसके ध्येय पर निर्भर करती है। उसके सदस्यों के चरित्र की अच्छाई या बुराई का उस पर कम असर पड़ता है।

इस विश्लेषण का ध्येय मनुष्य द्वारा राज्य के संगठन की स्थापना किये जाने के परिणामों की ओर इंगित करना है। सभी देशों में राज्य मनुष्य-निर्मित सभी संगठनों में सबसे अधिक शक्तिशाली है। इसलिये राज्य के सदस्य के रूप में उसकी राजनीतिक आकांक्षाएँ उसकी अन्य आकांक्षाओं से अधिक बलवती है। अतः हमारे लिये यह मालूम करना बहुत आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान राज्य में मनुष्य की क्या आकांक्षाएँ निहित है।

राज्य के बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार के कार्य होते हैं। स्वायत-शासन आन्तरिक कार्यो मे से एक है। यदि मोटे तौर से कहा जाये तो आन्तरिक कार्य

लाभकर तथा बाह्य कार्य हानिकर होते हैं। यद्यपि यह उक्ति सदा अक्षरशः सत्य नहीं हो सकती है; तथापि सामान्यतया होता यही है। राज्य के आन्तरिक कर्त्तव्यों में आवागमन के साधनों, रोशनी, शिक्षा, शान्ति (पुलिस), कानून, डाक-तार, आदि की व्यवस्था आते है। इन विषयों की उपयोगिता से केवल अराजकतावादी ही इन्कार करेंगे। अतः जहाँ तक आन्तरिक विषयों का प्रश्न है, उनकी अच्छाई को देखते हुए राज्य को प्रत्येक नागरिक की भक्ति सुलभ होनी चाहिये।

लेकिन जब हम राज्य के बाह्य विषयों पर आते हैं तो परिस्थिति बदल जाती है। इसके अन्तर्गत बड़े राज्यों के दो कर्त्तव्य आते हैं — राज्य की आक्रमण से रक्षा और अपने नागरिकों की अन्य राज्यों के शोषण में सहायता करना। जहाँ तक आक्रमण से सुरक्षा का प्रश्न है, यह कोई बुरी बात नहीं। यह लाभकर ही है। लेकिन परेशानी तो यह है कि जिन साधनों का देश की सीमा की सुरक्षा के लिये प्रयोग किया जाता है, वही साधन विदेशों के शोषण में भी काम आते हैं। उन्नत राज्य पिछड़े राज्यों के श्रम तथा खनिज-भण्डार से आर्थिक लाभ उठाने की चेष्टा करते है। इस हेतु उन सशस्त्र सेनाओं का उपयोग होता है, जिनका प्रयोजन केवल रक्षात्मक कहा जाता है। एक उदाहरण लिया जाये — ट्रान्सवाल में सोने की खानों की प्रचुरता मालूम होने पर अंग्रेजी फौजों ने वहाँ आक्रमण कर दिया। अंग्रेज सरकार के मन्सूबों के प्रति सन्देह प्रकट किये जाने पर लार्ड सैलिसबरी ने राष्ट्र को विश्वास दिलाया कि "हमें सोने की खानों की आकांक्षा नहीं है।" लेकिन हुआ यह कि इन खानों की आकांक्षा न होने पर भी युद्ध की समाप्ति तक अंग्रेजी फौजें सोना-बहुल क्षेत्र पर अधिकार कर चुकी थीं। एक दूसरा उदाहरण लिया जाये—समस्त विश्व जानता है कि अंग्रेजों का दक्षिण ईरान में जाने का घोषित लक्ष्य केवल वहाँ के लोगों का हित था। लेकिन यदि वह क्षेत्र तेल के अखण्ड भण्डार से परिपूरित नहीं होता तो फिर उनका वहाँ जाना ही सन्देहास्पद हो जाता। उस अवस्था में उन्हें वहाँ के निवासियों की हित-कामना का विचार कल्पना में भी न आता। संयुक्त राज्य अमरीका मध्य अमरीका स्थित देशों के प्रति भी कुछ ऐसे ही इरादों से प्रेरित रहा है। उसी प्रकार जापानी सेनाओं का मन्चूरिया पर आक्रमण करने का उदाहरण है। यद्यपि जापान के घोषित लक्ष्य अति ऊँचे थे, तिस पर भी इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि इसी में उस राष्ट्र का अपना स्वार्थ भी छिपा था।

यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी कि वर्तमान शक्तिशाली राज्यों के बाह्य कार्य प्रमुखतया कमजोर तथा पिछड़े राज्यों को डराने या पददलित करने से सम्बन्धित रहते है। उनका ऐसा करने का तात्पर्य कमजोर राज्यों को अपनी उस सम्पदा के उपयोग के अधिकार से वंचित रखना है, जिस पर नियमतः उनका

(कमज़ोर राज्य का) हक होता है। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार किसी की सम्पत्ति को हड़पने का प्रयास करे तो यह एक अपराध तथा इसलिये दण्डनीय माना जाता है। यदि यह कार्य बहुत बड़े पैमाने पर हो तभी अपराधी दण्ड पाने से बच सकते है। तिसपर भी है यह अपराध और अन्याय ही। लेकिन यही कार्य जब किसी शक्तिशाली राज्य द्वारा किया जाता है तो उसके नागरिक अपने राष्ट्र को प्रशंसा तथा गौरव के योग्य महसूस करते है।

यह विश्लेषण मुझे अन्तत: इस अध्याय के विषय –विद्यालयो मे देश-भक्ति की शिक्षा —की ओर ले जाता है। इसकी शिक्षा की उपयोगिता या अनुपयोगिता के विषय में विचार करने से पहले हमें इसके उद्देश्यों तथा व्यावहारिक परिणामों के विषय में स्पष्ट धारणाएँ बना लेनी चाहिये। यदि स्वदेश-प्रेम को अलग से लिया जाये तो उसकी शिक्षा लाभकर ही है। उसके हिमायतियो के इरादे भी कुछ बुरे नहीं है। अपने घर और जन्म-भूमि के प्रति प्रेम तथा उसकी अतीत की उचित सफलताओं के प्रति अभिमान की अनुभूति करना बुरा नहीं है। स्वदेश-प्रेम एक जटिल भावना है। यह अपनी धरती, वातावरण तथा अपने राष्ट्र-रूपी परिवार के प्रति स्नेहमय भावनाओं का मिश्रण है। इस प्रकार इस भावना का आधार भौगोलिक तथा जीव-विज्ञानीय है। यह भावना अपने मूल रूप में न तो राजनीतिक है और न ही आर्थिक। यह बिना दूसरे राष्ट्रों के प्रति दुष्कामना किये स्वराष्ट्र के प्रति अनुराग की भावना है। अपने विशुद्ध रूप में यह भावना केवल ग्रामीण तथा कम पर्यटन करने वाले लोगों में रहती है। नगरवासी को बहुधा अपने वास-स्थान को बदलना पड़ता है। उसकी कोई अपनी भूमि नही रहती है। अत: विशुद्ध देश-प्रेम के आधार के कोई उपादान उसको सुलभ न होने के कारण उसमें यह भावना अपने देहातवासी साथी की तुलना में कम होती है। उसकी भावना उसकी शिक्षा और समाचार-पत्रों के पठन से प्रेरित होती है। उसमें कृत्रिमता अधिक होने से वह हानिकारक होती है। इस भावना में अपने घर तथा सह-नागरिको के प्रति प्रेम कम और विदेशों के प्रति घृणा तथा उनकी भूमि को हड़पने की लालसा अधिक होती है। अपनी इन्हीं भावनाओं को वे देशभक्ति की संज्ञा दे देते है। यदि किसी व्यक्ति से ऐसा काम कराना हो, जिसकी कल्पना-मात्र से वह सिहर उठें, तो उसमें किसी प्रचण्ड अपराधियों के दल के प्रति आस्था पैदा करने से यह काम सरल हो जायेगा, उसे केवल इतना ज्ञान हो जाना चाहिये कि उस दल के प्रति भक्ति के रूप मे उसके लिये वह काम करना स्पृहणीय है और वह उसकी प्रचण्डता को भुलाकर पूरी शक्ति से उसके सम्पादन मे जुट जायेगा। देशभक्ति इसका अच्छा उदाहरण है। अपने देश की पताका के प्रति आदर की भावना को लिया जाये—किसी देश की पताका उसकी सामरिक कामनाओं की प्रतीक है। यह आक्रमणों, युद्धों, विजयों व बहादुरी के कार्यो की प्रेरक है। यूनियन जैक

अगरेज को शेक्सपियर, न्यूटन या डार्विन नहीं, बल्कि नेल्सन और ट्रैफलगर को स्मरण रखने तथा तदनुसार व्यवहार करने के लिये अनुप्रेरित करता है। अंग्रेज जाति ने मानव की भलाई के जितने कार्य किये है —वे न तो अपने झण्डे के नीचे रहकर किये है और न ही यूनियन जैक उनकी स्मृति दिलाता है। अंग्रेज लोगों ने जितने भी श्रेष्ठ कार्य किये है, वे अपने राष्ट्र के सदस्य के रूप में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत रूप मे किये हैं। अग्रेज जाति के सदस्य के नाते अंग्रेज जितने कार्य करता है, वे प्रशसा के योग्य कम ही होते है। और—हमारा यूनियन जैक हमें इन्ही कार्यों की प्रशसा करने के लिये उद्बोधित करता है! ब्रिटिश पताका के विषय में जो बात सही है, वही बात सयुक्त राज्य अमरीका या किसी भी दूसरे शक्तिशाली देश की पताका पर भी चरितार्थ होती है।

सभी पश्चिमी मुल्कों मे, छात्र-छात्राओं को सिखाया जाता है कि उनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य अपने देश के प्रति भक्ति-भाव रखना है। देशभक्ति का तात्पर्य सरकार के आदेशानुसार काम करना बताया जाता है। शिक्षार्थी इस शिक्षा में सन्देह न कर सकें, इसलिये उनको गलत इतिहास, राजनीति-शास्त्र तथा अर्थशास्त्र पढ़ाये जाते है। उनको अपने राज्य के कुकृत्यों के विषय में अनभिज्ञ रखा जाता है तथा दूसरे राज्यों की गलतियों को बढा-चढ़ाकर बतलाया जाता है। उनको विश्वास दिलाया जाता है कि उनके राज्य को जितने भी युद्धों में सम्मिलित होना पड़ा, वे केवल देश की सीमा-रक्षा की भावना से अनुप्रेरित होकर लड़े गये। इसके विपरीत अन्य राज्यो ने जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ीं, वे आक्रमण की प्रवृत्ति से प्रारम्भ हुईं। छात्र-छात्राओं को बतलाया जाता है कि अव्वल तो उनके राज्य ने कभी दूसरे देशों को अपने आधिपत्य में लाने की लालसा नहीं की; तिस पर भी यदि कभी कोई देश अनायास ही उनके अधिकार में आ गया तो यह केवल वहाँ सभ्यता की रोशनी फैलाने, धर्म का प्रचार करने, आदि उच्चादर्शों की प्रतीति हेतु। उनकी शिक्षा उन्हें बतलाती है कि विदेशों का नैतिक-स्तर अति निम्न रहता है तथा उन्हें विदेशी राष्ट्रों को उनकी कुटिलताओ से छुटकारा दिलाना चाहिये। यह उनके लिये दैवी आदेश कहा जाता है। ब्रिटिश राष्ट्र-गान में भी इसका उल्लेख है। लेकिन सत्य यह है कि जो राष्ट्र जितना शक्तिशाली रहता है, वह दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार मे उतने ही अनाचार तथा बर्बरता का बर्ताव करता है। दु:ख का विषय तो यह है कि सर्वसाधारण ही नहीं, अपितु सम्भ्रान्त कहे जाने वाले नागरिक भी अपने राज्यों की इन हरकतों में पूर्ण सहयोग देते है। इसका कारण यही है कि वे नही जानते कि राज्य की गतिविधियों के क्या दुष्परिणाम होते हैं।

इस प्रकार साधारण नागरिक भी अनजाने ही इन बर्बरतापूर्ण कृत्यों में योग देता है। इसके लिये शिक्षा दोष की प्रमुख भागी है। कुछ लोग समाचार-पत्रों को

दोषी ठहराते हैं। लेकिन मेरा उनसे मतभेद है। जैसी जनता की माँग होगी, वैसा ही समाचार-पत्रों का स्तर भी होगा। यदि आज निम्न कोटि के समाचार-पत्र हैं तो इसका कारण यही कि जनता की माँग ही वैसी है। यदि जनता की अभिरुचि दोषपूर्ण है तो इसका एकमात्र कारण दूषित शिक्षा है। संकीर्ण देश-प्रेम का शिक्षालयों में अध्यापन नही होना चाहिये। यह जनता को गुमराह करने का एक साधन है। सर्व-साधारण को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये कि वह इसके असर में न आये। नशीली वस्तुओं का सेवन, व्यापारिक वेईमानी, आदि घृणित आदतें हैं। प्राचीन पद्धति की शिक्षा इनके विरुद्ध शिक्षा देती है। लेकिन संकीर्ण राष्ट्रीयता इनसे भी अधिक बुरी और हानिकारक है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की गतिविधियों का ज्ञान रखने वाले सभी लोग जानते है कि इस संकीर्ण भावना के कारण मानव-सभ्यता ही खतरे में पड़ गई है। इसके वावजूद इस संकीर्णता की शिक्षा अनवरत रूप से जारी है। नवयुवकों को स्वदेश-रक्षा के नाम पर सैनिक-शिक्षा दी जाती है। सैनिक का कार्य सर्वश्रेष्ठ करार दिया जाता है। इस मानव-सभ्यता को विनाशोन्मुख बनाने वाले कार्यों को श्रेष्ठ कहने से इन्कार करने वाले तथा उनकी नृशंसता का पर्दाफाश करने वाले समझदार व्यक्तियों को 'देशद्रोही' की संज्ञा दी जाती है। उनको अपने देश का दुश्मन तथा अन्य देशों का मित्र करार दिया जाता है। सैनिकवाद यदि सैनिकों के संहार का कारण होता है तो निर्बल राष्ट्रों की निहत्थी जनता के नरमेध का हेतु भी बनता है। सत्तारूढ व्यक्ति भरसक चेष्टा करता है कि माता-पिता, जिनके बालक इस नर-मेध में आहुति का काम देते हैं, इस भीषणता को महसूस न कर पायें। उनके मन्सूबों को विफल बनाने का दुस्साहस करने वाले लोगों को कई यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। सत्तारूढ़ व्यक्ति देश की रक्षा के नाम पर तथा इसे अति गौरवपूर्ण बतलाकर सभी नवयुवको को अपनी नापाक इच्छाओं का शिकार बनाते हैं।

देश-प्रेम की शिक्षा के कई दोष हैं। राष्ट्रीयता की संकीर्ण भावना मानव-सभ्यता को ही समाप्त कर सकती है। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। शिक्षा का एक उद्देश्य मनुष्य को भद्र व्यवहार की शिक्षा देना भी है। लेकिन जिस शिक्षालय में दूसरों का संहार करने की शिक्षा दी जाती है, वहाँ से बालक सभ्य व सुसस्कृत आचरण की प्रेरणा कैसे प्राप्त कर सकते है? इस प्रकार यदि राष्ट्रीयता की शिक्षा जारी रहे तो शिक्षा के द्वारा मनुष्य को मनुष्य बनाने की आशा करना निरर्थक है। राष्ट्रीयता की शिक्षा की बुनियाद दूसरे राष्ट्रों से घृणा पर आधारित है। घृणा स्वयं अपने-आपमें बुरी चीज है। इस शिक्षा की सबसे बड़ी बुराई यह है कि इसके अन्तर्गत बालकों को झूठी शिक्षा दी जाती है। सभी देशों में बालको को सिखलाया जाता है कि उनका देश संसार के सभी देशों से महान् है। इसे सिद्ध करने के लिये उनका ध्यान दूसरे देशों की बुराइयों पर

दिलाया जाता है। ससार में केवल एक ही राज्य महानतम हो सकता है। इसलिये स्पष्ट है कि ससार मे केवल एक राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्य अपने शिक्षार्थियों को गलत शिक्षा देते हैं। यह एक सत्य है। परन्तु राष्ट्रीयतावादी शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा को सत्य पर आधारित करना देश-द्रोह के समान समझा जाता है और इसीलिये इसे कभी अवैध भी करार दिया जाता है। इसके बावजूद मेरा यह दृढ़ विचार है कि सत्य पर आधारित शिक्षा सदा थोथी शिक्षा से श्रेयस्कर होती है। इसलिये सारे विश्व में एक ही इतिहास का अध्यापन कराना तथा इतिहास की पुस्तकें सयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा तैयार किया जाना बेहतर होगा। ऐसा करने में सघ को एक अमरीकन तथा एक रूसी सहायकों की सहायता उपलब्ध हो। सभी देशों में राष्ट्रीय इतिहास के स्थान पर विश्व-इतिहास का शिक्षण हो। इतिहास लड़ाइयो के विवरणो से पूरित न होकर सांस्कृतिक महत्व का ज्ञान विद्यार्थी को सुलभ करे। यदि कभी लड़ाई का वर्णन अत्यावश्यक ही हो तो बालक को केवल विजेता पक्ष की महानता तथा बहादुरों की बहादुरी का ज्ञान न कराया जाये; अपितु उसे रण-भूमि में कराहते हुए घायलों, युद्ध के कारण उजाड़-प्रान्तों, बेघरबार जन-समुदाय, सुहाग-छिनी ललनाओं तथा पुत्र-विहीना माताओं के मध्य भी विचरण कर युद्ध की बर्बरता तथा अनैतिकता का ज्ञान करने दिया जाये। आज इतिहास बालक को एकांगी शिक्षा देता है। वह केवल समर के शौर्य के बखान से पूरित रहता है। शिक्षालयों के इस दृष्टिकोण के कारण शान्ति के उपासकों के सभी प्रयास बेकार हो जाते हैं। सम्पत्तिशाली वर्ग के विद्यालय, जिनके नैतिक और बौद्धिक स्तर गरीबों के विद्यालयों से निम्न होते हैं, इसविषय में विशेष दोषी है। बालक विद्यालयो मे दूसरे देशों की बुराइयों से तो परिचित हो जाते हैं, लेकिन अपनी बुराइयों से अनभिज्ञ रह जाते हैं। इसका असर यह होता है कि अपने पक्ष के सही होने की गलत धारणा उनके मन में बैठ जाती है तथा उनकी समर-कामना को बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत अपनी कमियों का ज्ञान व्यक्ति के दम्भ, उच्छृंखलता तथा अन्याय की भावना को निरुत्साहित करता है। लेकिन इतिहास की शिक्षा शिक्षार्थी को अपने इतिहास केइस अन्धकारमय पहलू का ज्ञान नहीं कराती। किस अंग्रेज बालक को आयरलैंड के ब्लैक और तान लोगों के बावत बतलाया जाता है? क्या फ्रांस के बालकों को रूर पर उनके देश द्वारा काले सैनिकों की मदद से बलपूर्वक अधिकार करने के विषय में बतलाया जाता है? क्या अमरीका के इतिहास में कही भी सक्को और वन्जैती या मूनी और बिलिंग्ज का उल्लेख आता है? नही, बिलकुल नही। इतिहास की इन कमियों के परिणामस्वरूप नागरिक के मन में अपने राष्ट्र की उच्चता की गलत भावना घर कर जाती है। वह दूसरे देशों की कमियो को तो जानता है, लेकिन स्वयं अपनी कमियों से अनभिज्ञ रहता है। यही बात दूसरे देशों के नागरिकों पर भी चरितार्थ

होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीयता की शिक्षा बुद्धि को भ्रम में डालने वाली होती है। लेकिन इसके लिये शिक्षकों को भी अधिक दोषी नहीं बतलाया जा सकता है। क्योंकि वे वैसा ही पढाते है, जैसा उन्हें स्वयं पढाया गया होता है। उनके मन मे भी यह धारणा बिठा दी गई होती है कि विदेशी राष्ट्र उनके राष्ट्र की घात में बैठे है तथा उसको अशक्त देखते ही उसे हड़प जायेंगे। इसलिये वे अपने तहेदिल से महसूस करते हैं कि उनके देश की आजादी को बनाये रखने का एकमात्र उपाय उसकी सबल सैनिक शक्ति है। परन्तु इस शिक्षा का एक दूसरा पहलू भी है, जिसके लिये उत्तरदायी लोगो को दोष-रहित नही कहा जा सकता है। दूसरे देशो की अधीनता से प्रमुखतया दो वर्ग—अस्त्र-शस्त्र तैयार करने वाले उद्योगपति और पूँजीपति—लाभ उठाते हैं। अस्त्र-शस्त्रों को तैयार करने वाले लोगों से अधिक लाभ उन देशों में पूँजी लगाने वाले पूँजीपति उठाते हैं। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि किसी अधीन तथा अविकसित देश में खनिज तेल की प्रचुरता है। उसको निकालने तथा बेचने के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है-- तेल निकालना और पराधीन जनता मे शान्ति बनाये रखना। पहली अवस्था व्यक्तिगत है और पूँजीपति इसे स्वयं करते हैं। लेकिन दूसरी अवस्था राजनीतिक है। इसके लिये सेना की आवश्यकता होती है और इसका व्यय केवल पूँजीपति को ही नहीं, अपितु सभी करदाताओं को उठाना पड़ता है। यह साधारण करदाता के प्रति अन्याय है। लेकिन देश-प्रेम के नाम पर उसकी ज़बान बन्द रखी जाती है। इस प्रकार पूँजीपति अपने देशवासियों की देश-प्रेम की भावना का नाजायज़ फायदा उठाते है। युवकों को इस अन्याय के विषय मे भी अन्धकार में रखा जाता है।

संकीर्ण राष्ट्रीयता का सम्बन्ध धन से भी होता है। राज्य की सेनाओं का प्रयोग धन-प्राप्ति के लिये किया जाता है। यह धन-प्राप्ति कई रूपों मे की जाती है। पराजित राष्ट्र को कर देने या क्षति-पूर्ति के लिये कहा जाता है, उसे ऐसे ऋणों का भुगतान करने को कहा जाता है, जिनकी सत्यता सन्देहास्पद रहती है; उसके खनिज भण्डार तथा कच्चे माल से लाभ उठाया जाता है तथा उसको ऐसी व्यापारिक सन्धियाँ करने के लिये बाध्य किया जाता है, जो उसके लिये हानि-कारक हों। यह कार्य कितना घृणास्पद तथा अन्यायपूर्ण है! लेकिन इसे राष्ट्री-यता के आवरण से इस प्रकार ढक लिया जाता है कि समझदार व्यक्ति भी इसकी संकीर्णता को न समझ सकें। यदि सम्बन्धित लोग चाहें तो शिक्षा के द्वारा ये सारी बुराइयाँ दूर की जा सकती है। इसके द्वारा मानव-जाति की एकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावनाओं की पुन: स्थापना की जा सकती है। उचित शिक्षा के द्वारा एक ही पीढ़ी में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकते है—संकीर्ण

राष्ट्रीयता, जिससे आज संसार इतना संतप्त है, समाप्त की जा सकती है; करों की ऊँची दीवारों को, जो एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से अलग रखे हुए है तथा हमारी निर्धनता का कारण बनी हैं, ढहा दिया जा सकता है; शस्त्रास्त्रों की होड़, जिसके कारण मानव-जाति का बना रहना ही शंका का विषय बन गया है, स्वतः समाप्त हो सकती है और उस घृणा का, जो आज के मनुष्य के मुख की कालिख है, स्थान सौहार्द्र की भावना ले सकती है। यह संकीर्ण राष्ट्रीयता प्रमुखतया शिक्षालयों की ही उपज है। अतः इसकी समाप्ति के लिये यह और भी आवश्यक है कि शिक्षा की पद्धति मे परिवर्तन हो।

जिस प्रकार निःशस्त्रीकरण केवल अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से ही सम्भव हो सकता है, उसी प्रकार शिक्षा-पद्धति मे ईप्सित परिवर्तन के लिये भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौता आवश्यक है। यद्यपि आज संयुक्त राष्ट्र संघ का ध्यान केवल आक्रमण-कारी राष्ट्रों को दोषमुक्त करने पर केन्द्रित है, तिस पर भी हो सकता है कि वह कभी इस समस्या की अहमता को समझ सके। हो सकता है कि दुनिया की सर-कारें अपने राज्यों में एक ही इतिहास के अध्यापन के लिये राजी हो जायें। यह भी सम्भव है कि अगले विश्व-युद्ध के बाद बचे-खुचे लोग एकमत से अपने राष्ट्रीय झण्डों के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र सघ के झण्डे का प्रयोग करना स्वीकार करें। यह केवल स्वप्नमात्र है, जिसकी प्रतीति सन्देहास्पद हो सकती है। इसमें प्रमुख बाधक शिक्षक है। उनकी सदा से यही आदत रही है कि जो कुछ उन्हें पढाया गया होता है, चाहे वह कितना ही गलत क्यों न हो, वे उसे ही पढ़ाते है। जरा इस कल्पित अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के कारण विश्व-इतिहास पढ़ाने के लिये मजबूर अंग्रेज इतिहास के अध्यापकों की कल्पना की जाये—उन्हें हिजरी संवत् के प्रारम्भ तथा कुस्तुनतुनिया के पतन की तिथियां ढूँढनी पड़ेंगी; चंगेजखां, भयानक इवान कुतुबनुमे का चीन से अरब नाविकों में प्रचार, यूनानियों के सर्वप्रथम गौतम बुद्ध की मूर्ति बनाने, आदि के विषय में मालूम करना होगा। इस प्रयास में उन्हे अपना जितना समय और श्रम देना पड़ेगा उससे तंग आकर हो सकता है कि वे एक ऐसी सरकार की स्थापना के लिये सचेष्ट हो जायें जो संयुक्त राष्ट्र संघ का विरोध करे। अध्यापकों की यह परिश्रम न करने की भावना प्रगति में सबसे अधिक बाधक है। परन्तु इसका यह तात्पर्य न समझा जाये कि वर्तमान मानव प्रयत्नशील नही है। पाश्चात्य जगत् के लोगों का श्रम आज पूँजीवादी गतिविधियों पर केन्द्रित है। यह प्रवृत्ति भी हमें विनाशोन्मुख बनाये जा रही है। समाज का अध्यापक वर्ग, जो जन-हित के लिये कार्य कर सकता था, यथास्थिति से सन्तुष्ट है। समाज की स्थिति में सुधार का तात्पर्य होगा—उनके पाठों में तदनुसार परिवर्तन और इससे वे जहाँ तक हो सके बचने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार वे बौद्धिक ही नहीं, अपितु भाव-नात्मक भार को भी बचाना चाहते है। किसी परिस्थिति-विशेष मे उससे सम्बद्ध

पुरानी भावनाएँ सरलता से जागृत हो जाती है—उदाहरणतः राष्ट्रगान के समय देश-प्रेम की भावनाओं का उदय। लेकिन पुरानी परिस्थितियों में नई भावनाओं को लाना जरा कठिन होता है। इसका परिणाम यही है कि विश्व घोर पतन के गह्वर की ओर अग्रसर है। भले लोगों का आलसी होना तथा बुरे लोगों का कार्यरत रहना परिस्थिति को बदतर बना देते हैं। निस्सन्देह कभी ऐसे भी क्षण आते है, जब मनुष्य अपने इस पतन को महसूस कर लेता है। लेकिन फिर दूसरे ही क्षण वह पुरानी तथा थोथी भावनाओं के नशे में अपनी स्थिति को भुला बैठता है। इन भावनाओं के असर से दूर रहने वाले लोग विनाश को स्पष्ट देखते है। वे जानते हैं कि संकीर्ण राष्ट्रीयता ही मानव-सभ्यता के इस महान् पतन का प्रमुख कारण है।

११

शिक्षा और वर्ग-भेद की भावना

समाज में सभ्यता के प्रारम्भ से ही असमानता रही है। आज भी असभ्य कबीलो मे सामाजिक असमानता स्पष्टत: देखने को मिलती है। कबीले के मुखिया को कई स्त्रियाँ रखने का अधिकार है। स्त्री ही किसी के सम्पत्तिशाली होने की निशानी मानी जाती है। जिसकी जितनी अधिक स्त्रियाँ होंगी, उसको उतना ही अधिक धनी और उच्च समझा जाता है। लेकिन सभ्य समाज में उच्चता की निशानी स्त्री-धन न होकर और कुछ है। सामाजिक असमानता वशानुक्रमण से सम्बन्धित हो गई है। पितृसत्तात्मक समाज मे यह असमानता पिता की स्थिति पर आधारित रहती है। इस असमानता का प्रारम्भ शारीरिक शक्ति से हुआ। जो जितना अधिक शक्तिशाली होता था, वह उतनी ही अधिक सम्पत्ति का संग्रह कर लेता था। उसकी मृत्यु के पश्चात उसके वंशजों को यह सम्पत्ति प्राप्त होती थी। उस समय भूमि सम्पत्ति का मुख्य विषय थी। आज भी काफी अधिक भूमि पर अधिकार होना सामन्तों की निशानी है। उनको अपनी भूमि अपने उस पूर्वज से प्राप्त होती है जो अपनी बहादुरी के बल पर उसको प्राप्त कर पाया होगा। अपनी बहादुरी से सम्पत्ति प्राप्त करना धन-अर्जन का सबसे श्रेष्ठ उपाय माना जाता था। इस सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करना उससे कम श्रेष्ठ समझा जाता था। वर्तमान समाज में धनी, परन्तु उसे अपने काम से और अधिक बढाने वाला उद्योगपति, भूमि को उत्तराधिकार में प्राप्त करने वाले सामन्त का स्थान लेता जा रहा है। इस प्रकार धन-प्राप्ति के दो वैध साधन है —कुलीनतन्त्री (सामन्तवादी) साधन (भूमि पर अधिकार) तथा पूँजीवादी साधन (काम से अपने धन को और अधिक बढ़ाना)। लेकिन अपने काम का पूर्ण फल पाने का सिद्धान्त व्यवहार-रूप में कम ही आता है, क्योकि उपभोग्य वस्तुएँ कच्चे माल से बनती है और कच्चे माल को उपभोग के योग्य वस्तुओं में बदलने वाले मजदूर या गुलाम होते हैं। इसलिये सिद्धान्तत: उनको उन वस्तुओं के विक्रय से प्राप्त होने वाला पूरा लाभ मिलना चाहिये। लेकिन वास्तव में ऐसा न होकर यही होता है कि मजदूर को केवल मजदूरी या गुलाम को केवल जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ ही प्राप्त

हो पाती हैं। वस्तुओं के विक्रय से प्राप्त होने वाला लाभ पूँजीपति को मिलता है —वह केवल इसीलिये कि उसी के पास इतना धन रहता है कि वह कच्चे माल तथा उसे उपभोग्य वस्तुओं में परिवर्तित करने के लिये आवश्यक यन्त्रो को खरीद सकता है। अपनी पूँजी के बल पर वह श्रमिको तथा गुलामो के काम को मोल ले लेता है। इस प्रकार समाज में सामन्त, पूँजीपति और श्रमिक तीन वर्ग बन जाते है। सिद्धान्त-रूप मे ये तीनों वर्ग सुस्पष्ट है। लेकिन असल में इनमे उतनी सुस्पष्टता नहीं है। यदि कोई सामन्त समुद्रतट की अपनी भूमि को पर्यटनस्थली में परिवर्तित करके उससे धनार्जन करने लगता है तो वह उस हद तक पूँजीपति भी बन जाता है। पूँजीपति यदि अपने कुछ धन से भूमि खरीद लेता है तो उस अर्थ में उसमें तथा सामन्त मे कोई अन्तर नही। अन्ततः यदि श्रमिक अपने बचे पारिश्रमिक को किसी कोष मे जमा कर लेता है तो वह पूँजीपति की तरह आचरण करता है तथा जब वह उस धन से मकान ले लेता है तो वह सामन्तवादी प्रवृत्ति से प्रेरित है। किसी मुकदमे मे केवल कानूनी सलाह देने के लिये एक हजार गिनी पाने वाला बैरिस्टर सिद्धान्त-रूप में मजदूर है। लेकिन वह ऐसा पुकारे जाने मे अपमानित महसूस करता है तथा क्रुद्ध हो जाता है। यहां पर वह पूँजीपति की मनोवृत्ति से अनुप्रेरित है।

रूस के अपवाद को छोड़कर सभी प्रमुख सामाजिक असमानताओ का कारण पैतृक कुटुम्ब और जायदाद को उत्तराधिकार में प्राप्त करने की व्यवस्था है। पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था के कारण धनवानों के बालको की शिक्षा निर्धनों के बालकों की शिक्षा से भिन्न होती है। उत्तराधिकार में जायदाद प्राप्त करने की व्यवस्था के कारण धनवान परिवारों के बालक अपने जीवन में निष्क्रिय रहने पर भी सुखपूर्ण दिन बिताने की आशा कर सकते हैं। इसी व्यवस्था के कारण असमानता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इस व्यवस्था की अनुपस्थिति की अवस्था मे एक पीढी की असमानता (गरीबी या अमीरी, आदि) अगली पीढ़ी मे भी न चली जाती। उसी प्रकार पितृसत्तात्मक कुटुम्ब के न होने पर सम्पन्न परिवार के बालक की शिक्षा निर्धन बालक से भिन्न न होती। पूँजीवादी व्यवस्था की समाजवादी लोगों द्वारा आलोचना की जाती है। लेकिन वे उस व्यवस्था की इन आधारभूत बातों की अवहेलना कर लेते हैं। जिन तत्त्वों पर पूँजीवाद आधारित है, वे उनका विश्लेषण नही कर सकते है। पूँजीपति की व्यापार-प्रणाली को ही वे पूँजीवादी-व्यवस्था समझ लेने की भूल करते है। उसकी पूँजी के कारण उसके बच्चों को जो विशेष सुविधाएँ सुलभ रहती है, वे पूँजीवादी व्यवस्था के एक प्रमुख अंग के रूप में है। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि न लगाया जाये कि यहाँ पर मार्क्सवाद की आलोचना की जा रही है।

मार्क्स किसी परिवार की आर्थिक अवस्था का उसकी परिस्थितियों पर पड़ने

वाले असर से सुपरिचित थे। यहाँ पर मैं उन आंग्ल-भाषी समाजवादियों की आलोचना कर रहा हूँ, जिनका विचार है कि आर्थिक अवस्था का शादी तथा परिवार से कोई सम्बन्ध नही है। वस्तु-स्थिति यह है कि आर्थिक अवस्था का पारिवारिक परिस्थितियों पर असर पड़ता है तथा पारिवारिक परिस्थितियों का आर्थिक अवस्था पर। धनी व्यक्ति अपनी स्त्री और बच्चे से और अधिक धन-संग्रह करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। उनके प्रति अपनी मृदुल भावनाओं के कारण वह और अधिक धन इकट्ठा करना आवश्यक समझता है। दूसरी ओर काम-ईर्ष्या तथा वात्सल्य की भावना-वश वह अपने पुत्र तथा स्त्री को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह देखता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की इस किस्म से व्यक्तिगत सम्पत्ति की अन्य किस्में पैदा होती है। जगली समाज में व्यक्ति अधिकतम स्त्रियों को प्राप्त करने हेतु धनार्जन के लिये प्रयत्नशील रहेगा तथा वर्तमान सभ्य समाज मे वह अपनी स्त्री तथा बालकों को अन्य लोगों की तुलना में अच्छी अवस्था में देखने की कामना से धन-सग्रह के लिये अनुप्रेरित होता है। इस प्रकार दो प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्तियों—धन तथा स्त्री-पुत्र—का पारस्परिक सम्बन्ध है। एक की प्राप्ति के लिये दूसरे का होना आवश्यक है। स्त्री और बालकों को व्यक्तिगत सम्पदा के रूप में देखे जाने के कारण उनको अच्छी अवस्था में देखने की कामना जागृत होती है। इसी कारण शिक्षा में वर्ग-भेद की प्रवृत्ति प्रवेश कर जाती है। साम्यवाद द्वारा इस परिस्थिति में कहाँ तक परिवर्तन होगा, इस पर यहाँ पर विचार करने का इरादा नही है।

शिक्षालयों में भी समाज मे प्रस्तुत वर्ग-भेद प्रतिबिम्बित होता है। बालक को विद्यालय—समाज में अपने पिता की स्थिति के अनुरूप स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार वर्गभेद वाले समाज के विद्यालयों में बालक केवल अपनी बौद्धिक प्रखरता के लिये ही नहीं, अपितु अपने पिता के समाज में उच्च स्थान के लिये भी सम्मानित होता है। इस दृष्टिकोण के कारण धनी बालकों में यह धारणा घर कर लेती है कि वे बुद्धि की कुशलता में भी अन्य बालकों से श्रेष्ठ हैं। साथ-ही-साथ निर्धन बालकों को भी यह महसूस कराने का प्रयत्न किया जाता है कि वे धनी बालकों से कम बुद्धिमान है। निर्धन बालकों के मन में ऐसी धारणा बिठाना आवश्यक समझा जाता है, अन्यथा वे कहीं अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ विद्रोह न कर दें। इस प्रकार वर्ग-भेद वाले समाज की शिक्षा में दो मौलिक कमियाँ आ जाती है—धनी बालकों का थोथा दम्भ और निर्धन बालकों में दीनता की अनावश्यक भावना पैदा करने का प्रयास। धनी बालकों के दम्भी होने के क्या दोष होते हैं, यह सर्वविदित है। हैब्रू धर्म-गुरुओ से लेकर आज तक सभी लोग इन दोषों की ओर सम्बन्धित लोगों का ध्यान आकर्षित करते आये हैं। लेकिन उनमे से चन्द लोग ही यह महसूस कर पाये हैं कि ये खराबियाँ केवल

उपदेशों से दूर न होकर अर्थ-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन करने से ही समाप्त की जा सकती है। बालकों में अनावश्यक दीनता की भावना पैदा करने के कई दोष है। इससे बालकों का अपने तथा अपनी योग्यता के ऊपर विश्वास नही रह पाता है। उनकी अपनी सूझ से कोई काम करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। इन परिस्थितियो में आत्म-सम्मान की भावना की कल्पना भी नही की जा सकती है। लेकिन दूसरी ओर धनी-वर्ग के दृष्टिकोण से इस भावना का पैदा न किया जाना भी हानिप्रद होता है। ऐसी अवस्था मे वे (निर्धन बालक) प्रस्तुत परिस्थितियों से असन्तुष्ट हो जाते है। यह भावना उनमें तोड़-फोड की वृत्ति को जन्म देती है। बालकों में इस दीनता की भावना को पैदा करने का प्रयास असत्य का प्रतिपादन करना है। बालको को यह बतलाना कि गरीब-अमीर का भेद अन्यायपूर्ण नही है, नैतिक झूठ है। प्रस्तुत अर्थ-व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था करार देना अर्थ-शास्त्र के अनुसार गलत है। पूर्वकाल में गरीब और अमीर वर्गो के मध्य संघर्ष का केवल अमीर के दृष्टिकोण से ही प्रतिपादन करना ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़कर रखना है। ऐसी शिक्षा देने वाले शिक्षक यदि स्वयं निम्न वर्ग के हों तो उनका इस शिक्षा की सत्यता में विश्वास उनकी बौद्धिक गुलामी का द्योतक होगा। उनका इस शिक्षा की सत्यता में विश्वास न होने पर भी ऐसी शिक्षा देना उनमें हिम्मत की कमी का प्रतीक होगा।

ऐसे कृषि-प्रधान समाज मे, जहां भू-सम्पत्ति पर प्रमुखतया सामन्तों का अधिकार है, वश की उच्चता को बहुत महत्त्व दिया जाता है। वहां सम्पत्ति को उतना अधिक महत्त्व नही दिया जाता है, जितना वश को। किसी भी सामन्त को, चाहे वह निर्धन और निर्वासित भले ही हो, बडे-से-बड़े महाजन से भी अधिक सम्मान दिया जायेगा। ऊपर से देखने से तो यही लगता है कि इस व्यवस्था मे धन को महत्त्व नही दिया जाता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्राय: भूमि ही सम्पत्ति का प्रमुख स्रोत होने के कारण परोक्षरूप मे उसी की पूजा की जाती है। कुलीनतन्त्री (सामन्तवादी) व्यवस्था प्रधान समाज में सामन्तों के सम्मान को बढ़ाने वाली कई थोथी धारणाएं प्रचलित रहती है; उदाहरणार्थ— सामन्त अन्य लोगो की तुलना में अधिक सभ्य-सुसंस्कृत, शिक्षित तथा मृदुल स्वभाव वाले होते हैं। सयुक्त राज्य अमरीका में एक दूसरी भ्रान्ति का दौर-दौरा है—सफल उद्योगपति केवल अपने कठिन श्रम, मितव्ययिता और ईमानदारी के कारण ही सफलता प्राप्त करता है। उसके विषय मे जनसाधारण की धारणा रहती है कि वह जन-कल्याण की कामना करता है तथा अपने प्रभाव का जनता की भलाई के लिये प्रयोग करता है। उन्नीसवीं सदी के छठे तथा सातवें दशक तक धनपतियों का होना असाधारण बात समझी जाती थी। उनकी उपस्थिति पुराने विचार के लोगों को सह्य नही हो सकती थी। धनपतियों द्वारा धन-सग्रह में प्रयोग की जाने

वाली कथित चालबाजी, वाक्-चातुरी तथा अनियमितता का ऐडम परिवार द्वारा रहस्योद्घाटन इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप था।[1] इसी सदी को आठवें तथा दसवें दशकों मे स्टैण्डर्ड वैकुअम आयल कम्पनी की कथित अनियमितताओं के विरुद्ध पुस्तकें लिखी गईं। लेकिन अब हवा का रुख बदल चुका है। धनपतियों को जन-कल्याण हितैषी माना जाने लगा है। हर विश्वविद्यालय को धनपतियों की आर्थिक सहायता उपलब्ध है तथा वह भविष्य में भी उसकी आशा करता है। प्रखर-बुद्धि स्नातक अनुसन्धान-कार्य के लिये धनपतियों से छात्रवृत्ति की उम्मीद करता है। समाचार-पत्र तथा विश्वविद्यालय धनपतियों की प्रशंसा करते नहीं अघाते हैं। जन-साधारण को यह विश्वास करने को अनुप्रेरित किया जाता है कि धन तथा सद्गुणों का चोली-दामन का सम्बन्ध है। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में भी वर्ग-भेद किसी भी सामन्तवादी देश से कम नहीं है।

वर्ग-भेद का बुरा असर केवल बालकों तक ही सीमित नहीं रहता। अध्यापक और पाठ्य-क्रम पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क के विकास को शरीर-संवर्धन से अधिक महत्त्व दिया जाता है। दोनों कार्य अलग-अलग अध्यापकों को सौंपे जाते हैं। फलतः बौद्धिक शिक्षा देने वाला अध्यापक बालकों की स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों के विषय में अनभिज्ञ रहता है। वह बालक की अस्वस्थता के प्रथम चिह्नों को समझने में असफल रहता है। मस्तिष्क और शरीर के बीच यह भेद बनावटी है। इसका सामाजिक वर्गों और शिक्षा पर बुरा असर पड़ा है। मस्तिष्क तथा शरीर की शिक्षा के कार्य भिन्न समझे जाते हैं। पुराने समय में यदि कोई बालक अपने बहरेपन के कारण अध्ययन-कार्य मे पूरा ध्यान न दे पाता तो बिना उसके शारीरिक दोष को देखते हुए, उसको पढ़ाई पर ध्यान न देने के अपराध के लिये सजा देना जरूरी समझा जाता था। लेकिन खैरियत यही है कि आज स्थिति इतनी बुरी नहीं है, तिस पर भी यह दोष न्यूनाधिक मात्रा में आज भी प्रस्तुत है। बालक के स्वास्थ्य का उसकी पढ़ाई पर क्या असर पड़ता है—उससे शिक्षक पूर्ण परिचित नहीं हैं। कल्पना कीजिये कि किसी बालक को अजीर्ण हो गया है। वह अपने पेट की इस अवस्था के कारण अपनी पढ़ाई पर पूरा ध्यान नहीं दे पा रहा है तथा अपने सहपाठियों से व्यवहार में चिड़चिड़ेपन का प्रदर्शन कर रहा है। अध्यापक शरीर की पाचन-क्रिया से अपरिचित होने के कारण उसके 'अपराध' के इस मूल को न समझ पाने से उसके ऊपर गुस्सा करके उसे सजा दे सकते है। इस अवस्था में सम्बन्धित अध्यापको को यह सुझाव देना कि वे अध्यापन करते हुए बालकों के पेट की अवस्था का भी खयाल रखें, उनके क्रोध को न्योता

---

१. देखिये 'हाई फाइनेन्स इन दी सिक्सटीज', ले० एडम बन्धु, येल विश्वविद्यालय द्वारा पुनः छापी गई।

देना होगा। यहां पर मुझे गलत न समझा जाये। मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि वर्तमान विद्यालयों में बालकों के स्वास्थ्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। आज के विद्यालयों में निस्सन्देह बालकों के स्वास्थ्य-सुधार के लिए पुराने जमाने से अधिक प्रयत्न किये जाते है। मेरी शिकायत यही है कि आज भी बौद्धिक शिक्षा तथा शारीरिक शिक्षा परस्पर बिलकुल भिन्न विषय समझे जाते हैं तथा एक का शिक्षक अपने लिये दूसरे विषय का ज्ञान रखना आवश्यक नहीं समझता है। शिक्षा के इस गलत दृष्टिकोण के कारण वयस्क लोगों की भी यह भ्रान्तिमय धारणा बन गई है कि मस्तिष्क और शरीर परस्पर सम्बन्धित न होकर दो बिलकुल भिन्न इकाइयां हैं। इस धारणा का कोई वैज्ञानिक या आध्यात्मिक आधार नहीं है। यह विभागीकरण बिलकुल बनावटी है। इसका प्रमाण यही है कि नवजात के लिये शरीर और मस्तिष्क में कोई अन्तर नही रहता है। शिशु इस भेद का कुछ आभास करने लगता है और बालक इसमें कुछ अन्तर समझने लगता है। मैं नहीं समझता कि कोई भी दस वर्ष का बालक इस अन्तर का दर्शन समझ पायेगा। लेकिन इतना अवश्य है कि उससे यह कहने पर कि उसकी अध्यापिका कुमारी 'अ' उसे मस्तिष्क की तथा कुमारी 'ब' शरीर की शिक्षा देती है, वह इस अन्तर को समझ जायेगा। इस प्रकार दो अध्यापिकाओं 'अ' और 'ब' के कार्यो का अन्तर ही इस अन्तर का आधार है। यदि दोनों अध्यापिकाओं 'अ' और 'ब' का काम एक ही अध्यापिका 'स' करती तो बालक इस बनावटी 'द्वैतवाद' में विश्वास नहीं करते तथा वे मस्तिष्क और शरीर को एक ही सिक्के के दो पहलुओ के समान समझते है। इस प्रकार वर्गभेद की एक नई प्रवृत्ति का जन्म होता है। बौद्धिक कार्यों के लिए अंग-संचालन की आवश्यकता नही होती है। लेकिन शारीरिक श्रम उसी पर आधारित होता है। चूंकि बौद्धिक कार्य करने वाले लोगों को अपने शारीरिक कार्य-सम्पादन हेतु सेवकों की आवश्यकता होती है, इसलिये बौद्धिकता को शारीरिक श्रम से अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि आत्मा शरीर से पवित्र है तथा वस्तुवादी विचार-धारा घृणास्पद है, आदि।

जहां तक पाठ्यक्रम का प्रश्न है, उस पर भी सम्पत्ति-पूजा का प्रभाव पड़ा है। अब यह प्रभाव शनैः-शनैः कम पड़ता जा रहा है। दास-प्रथा-प्रधान समाज में शारीरिक श्रम घृणित समझा जाता है। यूनान के लोग भी इसी प्रवृत्ति से प्रेरित थे। इसलिए वे संस्कृति, दर्शन व काव्य-सरीखे विषयों को, जिनमें शारीरिक काम की कोई आवश्यकता नही होती, अधिक महत्त्व देते थे। उनका विचार था कि किसी भी भद्र व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम करना अशोभनीय है। शायद इसीलिए यूनानी उन विज्ञानों में कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सके, जिनमें प्रयोग की आवश्यकता होती है। सिराकूज के घेरे के अवसर पर आर्किमिडीज ने जो महान्

अनुसन्धान कार्य किए, उनके कारण उनके सम्मान पर आँच न आने के लिए प्लूटार्क ने यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझा कि आर्किमिडीज़ को ये अनुसन्धान केवल अपने राजा (आर्किमिडीज़ का भाई) की सहायता के लिए ही करने पड़े थे। रोमवासी भी यूनानियों के इन विचारों को मानते थे। वर्तमान पश्चिमी देश आज दिन तक इस विचार-धारा से प्रभावित हैं। उनके अनुसार व्यक्ति के लिए सुसंस्कृत होना ही पर्याप्त है और इसके लिए पुस्तकों के अध्ययन तथा विचार-विमर्श के अतिरिक्त अन्य कुछ जरूरी नही है। जिस कार्य मे इससे अधिक श्रम की आवश्यकता होती है, वह यूनानियों के अनुसार संस्कृति के अन्तर्गत नही आता है। अव्वल तो समस्त पश्चिमी देशों मे, नही तो कम-से-कम इंगलैंड में तो अवश्य ही, करीब-करीब सभी अध्यापक सम्मानित व्यक्ति और साहित्य-प्रधान संस्कृति के इस यूनानी विचार से सहमत है। यह बात केवल प्राचीन शास्त्रों पर ही नही, अपितु आधुनिक इतिहास-सरीखे विषयों पर भी लागू होती है। हेनरी कैवैंडिश की तुलना में होरेस वालपोल तथा रावर्ट व्वायले के स्थान पर वोलिंगब्रोक के विषय मे जानना अधिक आवश्यक समझा जाता है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इन दोनों उपेक्षित सज्जनों ने संस्कृति को अन्य सज्जनों से अधिक योग प्रदान किया। इस भ्रान्ति का कारण यही है कि भद्र व्यक्ति का लड़ाई को छोड़कर अन्य अवसरों पर शारीरिक श्रम करना उसकी तौहीन समझी जाती है। वह तलवार तो चला सकता है; लेकिन टाइपराइटर चलाकर आजीविका कमाना उसे भद्र व्यक्तियों की कोटि से च्युत कर देता है।

अमरीका के लोगों की यह धारणा नही है। उसका कारण यह है कि वहाँ यूरोपीय देशों से बहुत पहले ही कुलीनतन्त्र (सामन्तवाद) समाप्त हो चुका था। लेकिन वहाँ शिक्षा में एक भिन्न प्रकार का वर्गभेद जन्म ले रहा है। इस भेद का मूल उद्योगों के प्रबन्ध-कार्य तथा उत्पादन के तकनीकी कार्यों का अन्तर है। आज का उद्योग-प्रशासक भविष्य का सामन्त है। वर्तमान अमरीकी समाज में 'महान् प्रकाशक' का वही तात्पर्य है जो डिजरायली के उपन्यासों में उल्लिखित 'महान् सामन्त' का है। इस प्रकार अमरीका में सामन्त का स्थान प्रशासक लेता जा रहा है। इसका सांस्कृतिक आदर्शों पर काफी असर पड़ रहा है। डिजरायली द्वारा चित्रित महान् सामन्त को शासनाधिकार प्राप्त थे। उसे यह अधिकार बिना प्रयास किये विरासत में मिलते थे। अतः वह इनका प्रयोग कोई विशेष उत्साह के साथ नहीं करता था। उनके प्रयोग में वह लापरवाही-सी प्रदर्शित करता था। उसी भाँति उसकी सम्पत्ति भी उसे उत्तराधिकार में प्राप्त होती थी। इसीलिये वह उसके होने में भी कोई विशेष प्रसन्नता प्रकट नहीं करता था। उसे केवल अपने सभ्य व्यवहार, विभिन्न प्रकार की शराबों के ज्ञान, संसार के सभ्य देशों के विषय में जानकारी, पुनर्जागरणकालीन चित्रकला से परिचय और चुटकुले कहने की

योग्यता पर ही नाज होता था। अतः यह कहा जा सकता है कि सामन्तों की योग्यतायें अनुपयोगी थीं। पर साथ-ही-साथ यह भी मानना होगा कि वे हानि-रहित थीं। लेकिन आज के प्रशासक के विषय में यह नही कहा जा सकता। उनका पद उन्हें विरासत में प्राप्त न होकर उनकी योग्यता, दृढ इच्छा-शक्ति तथा व्यक्ति के गुणों को पहचानने की उनकी क्षमता के कारण मिलता है। वे समाज का महान् हित भी कर सकते है और अहित भी। उनकी योग्यता तथा महत्त्व के कारण उन्हे सम्मान प्राप्त होना आवश्यक है। उनके भले या बुरे कार्यो के अनुसार उन्हें स्नेह या घृणा से देखा जाता है। समाज उनकी उपेक्षा नही कर सकता। उद्योग-प्रधान समाज में ऐसे व्यक्तियो को प्रमुख स्थान मिलना अवश्यम्भावी है। पूंजीवादी समाज में ऐसे व्यक्ति प्रायः अपनी इन योग्यताओं का प्रयोग अपनी स्वार्थ-साधना के लिए करते हैं। लेकिन समाजवादी मुल्क रूस मे ऐसे लोगों को अपनी योग्यताओं का पूर्ण विकास करने तथा राज्य में उनका उपयोग करने का अवसर तो मिलता है, परन्तु अपनी स्वार्थ-साधना करने का मौका नही दिया जाता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि उद्योग-प्रधान देश में, चाहे वहाँ पूंजीवादी व्यवस्था हो या साम्यवादी यह वर्ग सदा प्रधान रहेगा। प्रशासको और सामन्तों की प्रवृत्तियों तथा विशेषताओं में मौलिक अन्तर है। इसी अन्तर के कारण उद्योग-प्रधान समाज की संस्कृति सामन्तवादी समाज की सस्कृति से भिन्न होती है।

आज विश्वविद्यालयों में 'भद्र व्यक्ति के लिये शिक्षा' के विचार की प्रधानता है। विश्वविद्यालयों की शिक्षा इसी विचार से अनुप्रेरित होती है तथा इसी लक्ष्य-प्राप्ति की चेष्टा करती है। इसका उन (विश्वविद्यालयो) पर बुरा असर पड़ा है। वहाँ दी जाने वाली शिक्षा का वास्तविक जीवन के लिये कोई प्रयोजन नही रहता। इसलिये तीक्ष्ण-बुद्धि छात्रों को छोड़कर अन्य छात्र इस शास्त्रीय शिक्षा को महत्त्व-हीन तथा निरर्थक समझते हैं। फलतः वे बहुधा अपने विश्वविद्यालय-जीवन को अध्ययन में न बिताकर आराम तथा मौज उड़ाने में बिता देते हैं। यदि कभी कुछ साधारण-बुद्धि बालक लगन के साथ अध्ययन करते भी है तो यह उस शिक्षा की उपयोगिता की भावना से प्रेरित न होकर केवल कर्त्तव्य-पालन की भावना से होता है। उन विचक्षण-बुद्धि छात्रो के लिये, जो अपने भावी जीवन मे अनुसन्धान-कार्य करेंगे, विश्वविद्यालय की शास्त्रीय शिक्षा उपयुक्त ही है। लेकिन ऐसे छात्र होते ही कितने है ? अधिकाश छात्रों के लिये यह शिक्षा उनके जीवन के लिये प्रयोजनहीन है। ऐसी अवस्था में अच्छा होता कि हमारे विश्वविद्यालय ऐसे छात्रों को व्यावहारिक शिक्षा देते। लेकिन पुराने खयाल वाले लोग इस विचार से ही भय खाने लगते है। वे गलती करते है। विश्वविद्यालय की शिक्षा को अपने लिये अनुपयोगी समझकर कई होनहार नवयुवक अपने जीवन को रसहीन समझने लगते हैं और निराशा के कारण कटु आलोचनापूर्ण दृष्टिकोण अख्तियार कर

लेते हैं। अपने वातावरण की प्रत्येक वस्तु की नुक्ताचीनी करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते है। ऐसे ही नवयुवक भविष्य में समाज-विरोधी तत्त्वों को जन्म देते है। इसके विपरीत चिकित्साशास्त्र, इंजीनियरिंग, कृषि-विज्ञान, आदि उपयोगी विषयों का अध्ययन करने वाले नवयुवकों में यह बात नहीं पाई जाती है। उनका दृष्टिकोण रचनात्मक होता है। अतः जीविकोपार्जन-हेतु अध्ययन करने वाले नवयुवकों को अनुपयोगी शिक्षा देना केवल उन्हीं के लिये नहीं, बल्कि समाज के लिये भी हानिकर होगा। निस्संदेह समाज के लिये विशुद्ध शास्त्रीय शिक्षा की भी एक उपयोगिता है। परन्तु इससे वे ही विचक्षण-बुद्धि नवयुवक लाभान्वित हो सकते हैं, जो अपने समय को अनुसन्धान-कार्यों में लगायेंगे। शेष नवयुवकों को अपने विद्यार्थी-जीवन के अन्तिम वर्षों में ऐसा ज्ञान देना ही बेहतर होगा जो उनको भावी जीवन में कोई काम करने में सहायक हो। आज समग्र-शिक्षा सरीखी कोई चीज नहीं है। इसके बावजूद शिक्षा में इस विचार को महत्त्व दिया जाता है तथा ऐसे तत्त्वों पर अधिक जोर दिया जाता है जो छात्र के वाक्-चातुर्य को बढ़ायें। विशेषतः इगलैंड में यह प्रवृत्ति प्रमुखतया प्रतिलक्षित होती है। विश्वविद्यालयों में दिया जाने वाला ज्ञान वास्तविक जीवन में कम काम आता है। अतः नवयुवक विश्वविद्यालय से विदाई के साथ ही उस ज्ञान से भी छुट्टी ले लेते हैं। यदि विश्वविद्यालय की शिक्षा के उपरान्त किसी व्यवसाय में काम करने वाले चालीस-वर्षीय प्रौढ़ की परीक्षा ली जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह अपनी विश्वविद्यालय की शिक्षा को प्रायः भूल गया है। इसके विपरीत यदि उसे ऐसा ज्ञान मिलता जो उसको किसी पेशे की शिक्षा देता, समाज के लिये उसके महत्त्व तथा उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि से परिचित कराता, तो वह भुलाने की कोशिश करने पर भी उस ज्ञान को भुला नही पाता। वह और भी अधिक दृढ हो जाता।

वर्ग-भेद का एक नैतिक पक्ष भी है। नैतिक आधार पर भी वर्ग-भेद अनिच्छित है। वर्ग-भेद के विरोध के सभी आधारों में यह सबसे अधिक दृढ आधार है। अन्यायपूर्ण वर्ग-भेद से लाभ उठाने वाला वर्ग अपनी आत्म-ग्लानि को यह तर्क देकर छिपाने की चेष्टा करता है कि वह दलित वर्ग से अधिक योग्य है। इस प्रकार इस वर्ग के लोगों की सहानुभूति केवल अपने वर्ग तक ही सीमित रह जाती है। उनमें अन्याय का विरोध करने की शक्ति नही रहती तथा वे ऐसी परिस्थिति बनाये रखने के लिये सचेष्ट रहते हैं। अतः यह वर्ग हर प्रकार की प्रगति का विरोधी हो जाता है। उसके लोगो के दिलों में एक प्रकार का भय घर कर जाता है, जिससे प्रेरित होकर वे अपनी लाभपूर्ण स्थिति को परिवर्तित करने वाले सभी विचारों का विरोध करते हैं। दूसरी ओर या तो पददलित लोगो की बुद्धि इतनी कुण्ठित हो जानी चाहिए कि वे अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों को न समझ सकें या उनकी आत्म-सम्मान की भावना इतनी कुचल दी जाये कि वे अपनी ही

कोटि के लोगों के सम्मुख सिर झुकाने तथा उनके तलवे चाटने में आत्म-ग्लानि महसूस न करें। ऐसा होने पर वे असन्तुष्ट तथा क्रुद्ध हो उठेंगे, दमन तथा क्षोभ की भावना उनमें घर कर जायेगी। वे इस विश्व को ही अन्यायी और उत्पीड़क समझकर अपने जीवन से घृणा करने लगेंगे। इस प्रकार समाज में चलने वाला अत्याचार उच्च तथा दलित दोनों वर्गों के लिये अच्छा नही है। अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था न्याय के कोरे सिद्धान्तों के बजाय इन्ही कारणों से अधिक अनिच्छित है। अन्याय पर आधारित समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत दी जाने वाली शिक्षा नैतिक दृष्टिकोण से कभी उचित नहीं हो सकती। हो सकता है कि घृणा और क्षोभ की भावनायें सामाजिक वर्गों और लिंगों के भेद तथा अन्याय को समाप्त करने के लिये उपयुक्त हों, तिस पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि ये भावनायें मूलरूप में बुरी होने के कारण अपनी राजनीतिक उपयोगिता के बावजूद भी बुरी है। किसी भी आदर्श समाज की बुनियादी तामसिक तथा विध्वंसात्मक भावनायें न होकर दया, प्रेम तथा रचनात्मक भावनायें होनी चाहिये। यदि आदर्श समाज के इसी आधार पर गहनतापूर्वक विचार किया जाये तो इसके बहुत दूरगामी परिणाम हो सकते है। परन्तु यहाँ पर शिक्षा विचार का मुख्य विषय होने के कारण उतनी दूर जाना उचित नहीं होगा। जिज्ञासु पाठक स्वयम् इस तर्क के परिणामों की कल्पना कर ले।

१२

शिक्षा में प्रतियोगिता

उन्नीसवीं सदी के प्रमुख आदर्शों में से कुछ आदर्श अब न रहे। जो आदर्श शेष भी है, वे अब पिछली सदी के समान अधिक प्रभावकारी नहीं रह गये है। प्रतियोगिता ऐसे आदर्शों का एक अच्छा उदाहरण है। मेरा विचार है कि यह समझना भूल होगी कि प्रतियोगिता के आदर्श को डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त ने जन्म दिया। सत्य इसके विलकुल विपरीत है। डार्विन का सिद्धान्त ही प्रतियोगिता के आदर्श पर आधारित था। जैव-वैज्ञानिक अभी भी विकासवादी सिद्धान्त में विश्वास तो करते हैं, लेकिन वे विकास-कार्य में प्रतियोगिता को उतना महत्व नहीं देते, जितना डार्विन ने दिया। यह परिवर्तन समाज की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के फलस्वरूप था। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ छोटी फर्मों के जन्म से हुआ। इन फर्मों में आपस में प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। राज्य अभी भी कृषि तथा सामन्तवादी व्यवस्था-प्रधान थे। इसलिये इन उद्योगो को राज्य से कोई सहायता नही मिलती थी। अतः औद्योगीकरण की उस प्रातःवेला में उद्योग-पति, अपनी सहायता अपने आप करले तथा व्यापार-स्वातन्त्र्य और प्रतियोगिता के आदर्शों में विश्वास करते थे। प्रतियोगिता का यह आदर्श औद्योगिक क्षेत्र से अन्य क्षेत्रों में फैला। डार्विन ने इसे अपने मत का आधार-भूत सिद्धान्त बनाया तथा कहा कि विभिन्न प्रकार के जीवों के मध्य प्रतियोगिता के कारण ही विकास को जन्म मिला। शिक्षाविद् महसूस करने लगे कि प्रतियोगिता की भावना से प्रभावित होने से शिक्षार्थी मेहनती बन सकते हैं। मालिकों ने इस आदर्श के बल पर मजदूर संगठनो के निर्माण को रोकना चाहा। अमरीका के पिछडे प्रदेशों में आज तक इस आदर्श का इस हेतु प्रयोग किया जाता है। धीरे-धीरे पूंजीपति इस पारस्परिक प्रतियोगिता से अपने स्वार्थों की होने वाली हानियों से जागरूक हो गये। फलतः इससे वचने के लिये सारे देश के उद्योगों ने अपने अलग-अलग सगठन बनाने प्रारम्भ किये। इससे एक ही देश की विभिन्न फर्मों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का स्थान अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता ने ले लिया। पूंजीपति स्वयं तो संगठित हो गये, लेकिन उन्होंने अपने मजदूरों को संगठित होने से रोकने की भरसक चेष्टा की।

अब उनका नारा हो गया "एकता हमारे लिये वरदान है और फूट उन (मजदूरों) के लिये अभिशाप।" इस प्रकार स्वतन्त्र प्रतियोगिता का आदर्श जीवन के अन्य क्षेत्रों में अभी भी शेष है, लेकिन उद्योगपति इससे मुक्त हो गये है। जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, उनकी प्रतियोगिता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चलती है। अपनी स्वार्थ-साधना हेतु की जाने वाली प्रतियोगिता को वे देशभक्ति का रूप देते है। इस प्रकार वे कोशिश करते हैं कि उनका सारा देश इस प्रतियोगिता में उनका साथ दे।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रतियोगिता की प्रवृत्ति से दो मुख्य दोष आ जाते हैं। प्रथमत:, इससे सहयोग की भावना समाप्त हो जाती है। उसका स्थान प्रतिद्वन्द्विता ले लेती है। विशेषत: अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में यह उक्ति और भी अधिक सत्य है। द्वितीयत:, कक्षा में भी प्रतियोगिता की भावना का बोलबाला हो जाता है। प्रतियोगिता छात्रवृत्ति तथा नौकरी पाने का एकमात्र आधार हो जाती है। जहाँ तक मजदूरों का प्रश्न है, उन्होंने अपने संघों द्वारा प्रतियोगिता के प्रभाव को काफी हद तक सीमित कर लिया है; तथापि अन्य व्यवसायो के क्षेत्रों में अभी तक इसका असर ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

शिक्षा मे प्रतियोगिता के प्रभाव से सबसे बड़ी हानि यह हुई है कि प्रतियोगिता की दौड़ मे छात्रों को उनकी शक्ति और रुचि से भी अधिक पढाया जाता है। विशेषत: कुशाग्र-बुद्धि बालकों के विषय में यह बात और भी अधिक सही है। पश्चिमी यूरोप के सभी मुल्कों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा में पाई जाती है। इससे बालकों की बुद्धि तथा कल्पना-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। उनका स्वास्थ्य गिर जाता है। उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका अभी तक इस दोष से काफी हद तक मुक्त है। यह मानव-इतिहास की अति दुःखपूर्ण बात है कि प्रत्येक पीढ़ी में इस प्रतियोगिता देवी की वेदी पर कितने ही कुशाग्र-बुद्धि बालको की कुशाग्रता की बलि दी जाती है। मेरी तरह विश्वविद्यालय जीवन से परिचित लोग इस बुराई की विभीषिका से अवगत होंगे। यद्यपि संयुक्तराज्य अमरीका की शिक्षा-प्रणाली पश्चिमी यूरोप की शिक्षा-प्रणाली से कई अर्थों में निम्न है, तथापि इस सम्बन्ध में वह उससे श्रेष्ठ है। हो सकता है कि अमरीका के स्नातकों में ज्ञान की गरिमा तथा रुचियों की विशदता न मिलती हो; तिस पर भी उनमें जो जिज्ञासा, अन्वेषक-वृत्ति तथा बौद्धिक सूझ और ताजगी मिलती है, वह पश्चिमी यूरोप के स्नातकों में कहाँ! वहाँ इन गुणों के आँकड़ों तथा तथ्यों को नीरस तोता-रटन के आगे कुर्बान कर दिया गया है। अध्यापन के साथ-ही-साथ बालकों में स्वाध्याय के प्रति रुचि पैदा करना और उसे बनाये रखना बड़ा कठिन कार्य है। यूरोप के शिक्षक निस्सन्देह अभी तक इस कठिनाई को पार नहीं कर पाये है।

प्रतियोगिता-प्रधान शिक्षा-प्रणाली में साधारण शिक्षक बालकों की कल्पना-शक्ति को अपने कार्य में सबसे बड़ी बाधा समझते है। अत: वे अध्यापन-कार्य को

सुचारु रूप से चलने देने के लिये छात्रों की कल्पना-शक्ति का दमन सबसे पहली आवश्यकता मानते हैं। कल्पना नियम और अनुशासन की बन्दिशों को नहीं मानती। यह पूर्णतया व्यक्तिगत होती है। उसे शुद्धता या अशुद्धता के तराजू से नहीं तोला जा सकता है। इन्हीं कारणों से शिक्षक इसे अपना दुश्मन समझता है। विशेषतः प्रतियोगिता में सफलता के लिये, जहां बालक की सिद्धियों को एक ही मापदण्ड से मापा जाता है, यह उपयुक्त नहीं है। अधिकांश बालकों में यथार्थवादी ज्ञान के साथ-ही-साथ इस शक्ति का ह्रास होने लगता है। इसलिये इस शक्ति का परिष्करण तथा परिवर्द्धन और अधिक कठिन हो जाता है। इस प्रकार सांसारिक ज्ञान तथा कल्पना-शक्ति का परस्पर विरोध प्रतीत होता है। बाल्यावस्था के बाद भी जीवन-पर्यन्त यह शक्ति दो अवस्थाओं में बलवती रह सकती है। प्रथमतः, व्यक्ति को सासारिक परिस्थितियो का अज्ञान बना रहे। लेकिन यह स्वस्थ विकास नही होगा। इसलिये यह इच्छित नही है। द्वितीयतः, व्यक्ति को सासारिक विषयों का ज्ञान तो हो, लेकिन वह उनका इस हद तक दास न बन जाये कि उसकी कल्पना-शक्ति ही समाप्त हो जाये। सांसारिक ज्ञान-प्राप्ति के साथ-ही-साथ कल्पना-शक्ति भी बनी रहे। यही अवस्था इच्छित है। फेरीनाता देग्ली उवेर्ती को आजीवन नरक में वास करना पड़ा; तिस पर भी नरक के प्रति उनकी घृणा ज्यों-की-त्यों बनी रही। प्रौढ़ का सांसारिक ज्ञान के प्रति ऐसा दृष्टिकोण ही उसकी कल्पना-शक्ति को बनाये रखने के लिये आवश्यक है।

अब कुछ विशेष विषयों पर विचार किया जाये। सबसे पहले बालकों की चित्रकला की अभिरुचि को ही लिया जाये। पांच से आठ वर्ष के बालकों को चित्र बनाने का चाव होता है। यदि उन्हे प्रोत्साहन दिया जाये तो उनकी इस रुचि का विकास हो सकता है। लेकिन उन्हें प्रोत्साहित करके पूर्णरूपेण स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिये। चन्द बालक ऐसे भी होते हैं, जिनमें अपनी कला की आलोचना-शक्ति के जागरण के बाद भी चित्रकला के प्रति अनुराग बना रहता है। यदि बालकों को किसी चित्र की हूबहू नकल करने को कहा जाये और वे ऐसा कर भी लें, तो यह उनकी कलात्मक रुचि का द्योतक न होकर केवल उनकी वैज्ञानिक रुचि की निशानी होगी। फिर उनकी चित्रकला में उनकी कल्पना मूर्त रूप नहीं ले सकती है। इस अवस्था से बचने के लिये उनसे न तो यही आशा की जानी चाहिये कि वे सही चित्र खींचें और न ही उनकी त्रुटियाँ उनको बतलाई जानी चाहिये। केवल उनके चाहने पर ही उनकी कमियों की ओर उनका ध्यान दिया जाये। उनके मन में यह गलत धारणा घर न करने पाये कि सही चित्र बनाना ही प्रशंसनीय है। यह साधारण शिक्षक के लिये सम्भव नही है। यह न भूला जाये कि कला की उत्कृष्टता का मापदण्ड प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न होता है। कला की एक ही कृति कुछ को श्रेष्ठ प्रतीत होती है तो दूसरे को वही कृति वाहियात

प्रतीत होती है। इसके विपरीत सही नकल की उत्कृष्टता का मापदण्ड सबका एक होता है। साधारण शिक्षक इसकी सरलता के कारण ही चित्रों की हूबहू नकल पर जोर देते हैं। केवल प्रतिभावान शिक्षक ही शिक्षा पर सामाजिक असर और कक्षा-व्यवस्था के बावजूद (जो सभी बालकों की कृतियों को एक ही मापदण्ड से नापने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है) बालकों की आत्माभिव्यंजना तथा कल्पना-शक्ति को प्रोत्साहित कर सकता है। यदि बालकों के व्यक्तित्व की रक्षा तथा उसका विकास स्पृहणीय है तो अध्यापक द्वारा कक्षा-शिक्षण कम-से-कम हो तथा बालकों की कृतियों की इतनी अधिक आलोचना न की जाये कि उनमें झिझक की भावना बढ़े और वे अपने विचारों तथा कल्पनाओं को स्वतन्त्रतापूर्वक चित्र-रूप न दे सकें। लेकिन आज की शिक्षा-प्रणाली में, जिसमें शिक्षक को मुख्यतया निरीक्षक को अपने कार्य से सन्तुष्ट और प्रसन्न बनाये रखने की चिन्ता रहती है, इन नियमों का काम मे लिया जाना सन्देहास्पद ही है।

बालक के कुछ बड़े होने पर उसे साहित्य की शिक्षा दी जाती है। चित्रकला-शिक्षण के सम्बन्ध मे जो बात है, वही इस पर भी लागू होती है। अध्यापकों में साधारण रूप से बालकों को आवश्यकता से अधिक पढ़ाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। वे लेखन-शैली के विषय में कुछ नियम बना देते है, जिनका पालन करने के लिये छात्रों को बाध्य किया जाता है। ये नियम कभी-कभी हास्यास्पद भी होते हैं। उदाहरणार्थ बालकों को बतलाया जाता है कि 'और' तथा "लेकिन" से कभी भी कोई वाक्य प्रारम्भ नही करना चाहिये। जहाँ तक व्याकरण का प्रश्न है, निस्सन्देह भाषा-शुद्धि के लिये उसका पालन होना ही चाहिये। उसके नियमों में भी लचीलापन है। लेकिन अध्यापक उन्हें भी आवश्यकता से अधिक कठोर बतला देते हैं। यदि कोई बालक :

"और—यहीं पर अन्त हो गया, उसकी इह-लीला का।"[1] लिखे तो उसे अशुद्ध भाषा और गलत व्याकरण का प्रयोग करने के लिये डाँटा जायेगा। चित्र-कला शिक्षण की तरह साहित्य के अध्यापन मे भी नियमों के शुद्ध प्रयोग पर यदि अति बल दिया गया तो इसका परिणाम बालक की साहित्यिक अभिरुचि को समाप्त करना हो सकता है। यह अध्यापन का प्रयोजन ही समाप्त कर देना होगा। साहित्य का अध्यापन प्रमुखतया पठन तक ही सीमित होना चाहिये। बहुत पढ़ाने के बजाय थोड़ा पढ़ाया जाये। लेकिन जितना पढ़ाया जाये, उसे इतनी बारीकी तथा इस ढंग से पढ़ाया जाये कि शिक्षार्थी उसकी उत्कृष्टता को समझ सकें तथा उनकी साहित्यक अभिरुचि बढ़ती रहे। साहित्य के जिन अंशों से बालक

---

१. मूल पुस्तक में निम्नांकित वाक्य दिया गया है :—
And damned be him that first cries hold, enough.

को रस-प्राप्ति हो, उन्हे यदि वह कंठस्थ कर ले तो अच्छा ही होगा। अध्यापक का प्रमुख ध्यान बालकों की रुचि तथा उसे जागृत करने पर रहे। साहित्य की कोई कृति चाहे कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हो, यदि उसमे बालकों की रुचि न हो और न ही अध्यापक उनमें उसके प्रति रुचि जागृत कर सकें, तो उसे केवल उत्कृष्ट समझ-कर ही उनके ऊपर थोप देना केवल निरर्थक ही नही, अपितु हानिकर भी है। जब साहित्य के अध्ययन में रस की प्राप्ति होती है तथा उत्कट अभिलाषा के साथ उसका पठन किया जाता है तो उसका असर भाव-प्रकाशन तथा शैली पर पड़ता है। जहाँ यह बात नही होती है, परिणाम केवल पाखण्ड-पूर्ण व्यवहार होता है। इसमे कोई सन्देह नही कि लिखने के अभ्यास का भी अपना महत्त्व है। परन्तु अध्यापक को बालक के लेख की न तो आलोचना करनी चाहिये और न ही उसे बताना चाहिये कि उसे किस प्रकार लिखा जाना चाहिये। उसका कार्य केवल बालकों को लिखने के लिये अनुप्रेरित कर देना है। इसके अतिरिक्त लिखने के सम्बन्ध में किसी प्रकार के अध्यापन की आवश्यकता नही है।

कल्पना-शक्ति के विषय में जो बातें सही हैं, वही बौद्धिक शक्ति पर भी चरि-तार्थ होती है। बौद्धिकता के विषय में विचार करने के साथ-ही-साथ थकान पर भी विचार करना होगा। थकान सामान्य और विशेष दो प्रकार की होती है। प्रथम का सम्बन्ध स्वास्थ्य से होने के कारण हमारा उससे विशेष प्रयोजन नहीं है, लेकिन दूसरी किस्म की थकान शिक्षा-कार्य में लगे लोगों के लिये ध्यान देने की चीज़ है। इस सिलसिले में पॉवलोव के कुत्ते का उल्लेख करना उचित होगा। उस कुत्ते को दण्डाकार तथा वृत्ताकार चित्रों में अन्तर करना आ गया था। पॉवलोव ने अण्डाकार चित्र के दोनों व्यासों का अन्तर धीरे-धीरे कम करना प्रारम्भ किया। व्यासों मे जब केवल ९ : ८ का सम्बन्ध रह गया तो कुत्ता वृत्त और अण्डाकार में अन्तर न कर सका। उसके पश्चात् अण्डाकार के दोनों व्यासों का अन्तर बढ़ा देने पर भी वह वृत्त तथा अण्डाकार को पहचान नही पाया। यही हालत कई छात्र-छात्राओ की हो जाती है। यदि उनको उनकी शक्ति के बाहर कोई समस्या या प्रश्न दिया जाता है तो वे केवल उसे हल करने में असमर्थ ही नही रहते है, अपितु हिम्मतपस्त भी हो जाते है। इस कारण वे उस समस्या या प्रश्न से सम्बन्धित पूर्व-ज्ञान को ही भूल जा सकते है। कई लोग अपनी बौद्धिक शक्तियों के बावजूद गणित मे कमज़ोर रहते हैं। केवल इसीलिये कि उनको गणित का शिक्षण ऐसी उम्र से कराया जाता है कि जब उनमें उसके नियमों के समझने की क्षमता नहीं रहती। सूक्ष्म विषयों पर तर्कना करने की शक्ति का उदय उससे अधिक कठिनाई के साथ तथा देर से होता है। गणित के लिए भी इसी क्षमता की आवश्यकता होती है। पायगेट-रचित पुस्तक 'जजमेन्ट एण्ड रीज़निंग इन दी चाइल्ड' से भी यह बात सिद्ध होती है। परन्तु अधिकतर अध्यापक

इस बात को नहीं समझते। वे बालकों के सवाल-जवाबो से ही यह मान बैठते है कि वे विषय को भली-भाँति समझ रहे हैं। लेकिन अवस्था बहुधा पॉवलोव के कुत्ते-जैसी होती है। विशेषत: गणित के साथ जिसका अध्यापन बाल्यकाल से ही प्रारम्भ कर लिया जाता है, यह बात है। इस परिस्थिति से बचने के लिए तीन आवश्यकतायें हैं— अध्यापक को मनोविज्ञान की शिक्षा दी जाय, उसे अध्यापन-कला में दीक्षित किया जाय और अन्ततः उसको पाठ्यक्रम मे साधारण परिवर्तन करने की छूट सुलभ हो। गरीबों के बच्चों को पढाने वाले अध्यापको के लिये आजकल अध्यापन का प्रशिक्षण आवश्यक समझा जाता है। लेकिन धनाढ्यो के बालकों का अध्यापन करने वाले शिक्षको के लिये नहीं।

थकान मस्तिष्क की शक्तियो के विकास में बाधक होती है। इसलिये यह हानिकारक होती है। इसी तरह बौद्धिक रुचियो को प्रोत्साहित न करना भी बुरा है। इसका मुख्य कारण बालकों को ऐसी बातों का शिक्षण है जो निष्प्रयोजन हो या बालकों को ऐसी प्रतीत होती हों। उदाहरण के लिये यदि सौ छात्रों की किसी कक्षा को लिया जाये तो उसमें नब्बे छात्र केवल दण्ड के भय से, नौ प्रतियोगिता की भावना से और केवल एक अध्ययन में रुचि के कारण पढते हुए पाये जायेंगे। यह एक नैराश्यपूर्ण दृश्य है। प्रयत्न करने पर इस परिस्थिति मे सुधार हो सकता है। छोटी घण्टियों, कक्षा में इच्छानुसार उपस्थिति और अच्छे अध्यापन के द्वारा करीब ७०% छात्रो में अध्ययन के प्रति अनुराग पैदा किया जा सकता है। रुचि के जागरण से अध्ययन में ध्यान स्वभावतया लगने लगता है तथा ध्यान में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। फलत: थकान कम हो जाती है और अध्ययन-शक्ति बढ़ती जाती है। ज्ञानार्जन आनन्द का एक विषय हो जाता है। इससे विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी अध्ययन जारी रह सकता है। इस प्रकार थोड़े समय का स्वेच्छा तथा अरुचिपूर्ण अध्ययन काफी लम्बे लेकिन नीरस अध्ययन से अधिक लाभदायक होता है। इस हेतु अध्यापक को अध्यापन इस भाँति करना है कि छात्र उसे अपने लिये उपयोगी समझे। छात्रों के ऊपर ऐसा ज्ञान कदापि न लादा जाये जो केवल अपने पुरानेपन के कारण ही उनके लिए आवश्यक समझा जाये।

विश्वविद्यालय की शिक्षा के अपवाद को छोड़कर अन्य सभी स्तरो की शिक्षा का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि उससे दिमागी गुलामी को बढावा मिलता है। छात्रों के मन में यह धारणा बैठा दी जाती है कि हर प्रश्न का, चाहे वह कितना ही विवादास्पद क्यों न हो, एक ही हल होता है और यह हल भी वही होता है, जिसे पूर्व से ही मान्यता प्राप्त रहती है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा—मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार हम लोग शेक्सपियर के सबसे अच्छे नाटक के विषय में बातचीत कर रहे थे। हम लोग ऐसे विचारों को रखने तथा सिद्ध

करने मे व्यस्त थे, जो पहले से सर्वसम्मत नहीं थे। हम में एक ऐसे सज्जन भी थे, जो निम्न विद्यालयो से तरक्की पाकर विश्वविद्यालय में आये थे। उन्होंने यह समझते हुए कि हम लोग 'हेमलेट' शेक्सपियर की उत्कृष्ट रचना होने की सर्वसम्मत धारणा से अनभिज्ञ है, सीधे-सीधे हमें इससे सूचित कर लिया। वहीं पर विचार-विमर्श का खात्मा हो गया। अमरीका का हर पादरी जानता है कि रोम के पतन का एकमात्र कारण वहाँ के लोगों का नैतिक पतन था। जुवेनल और पेट्रोनियस ने अपनी कृतियों में इस पतन का अच्छा वर्णन किया है। साथ-ही-साथ इस सत्य की भी उपेक्षा की जाती है कि रोम के पश्चिमी साम्राज्य के पतन से पूरे दो सौ वर्ष पहले से ही वहाँ के लोगों का नैतिक पतन प्रारंभ हो गया था। अंग्रेज बच्चों को फ्रांस की राज्यक्रांति जिस दृष्टिकोण से पढ़ाई जाती है, फ्रांस के बच्चों को उससे भिन्न दृष्टिकोण से पढ़ाई जाती है। दोनो ही दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है। परन्तु अध्यापक के मत से भिन्न मत व्यक्त करना न तो प्रोत्साहित किया जाता है और न ही साधारण छात्र ऐसी हिम्मत कर सकते हैं। छात्रो की बौद्धिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहित करने के लिये अध्यापक को उन्हें भिन्न मत प्रकट करने तथा उसे सिद्ध करने के हेतु तर्क देने के लिये प्रेरित करना चाहिये। उसे उन्हें ऐसी पुस्तकों को पढ़ने की प्रेरणा भी देनी चाहिए, जिनमें उसके मत के विपरीत मत व्यक्त किया गया हो। परन्तु चंद अध्यापक ही ऐसा करते हैं। फल यह होता है कि छात्रों में स्वतन्त्र मत रखने और शोध की प्रवृत्ति जाग्रत होने के बजाय केवल पुराणपन्थीपन ही आ पाता है। इस दोष का भागी केवल अध्यापक ही न होकर पाठ्यक्रम भी है। पाठ्यक्रम इतना अधिक विस्तृत होता है कि ज्ञान की गहनता को प्रोत्साहित किया जाना कम सम्भव रहता है। फलस्वरूप अध्यापकों को निश्चित पाठ्यक्रम को पूरा करने के लिये शीघ्रता करना तथा केवल पूर्व-सम्मत विचारों से ही बालकों को परिचित करना जरूरी होता है।

बालक की ज्ञानार्जन करने की शक्ति से बाहर उसको अध्ययन करने के लिये बाध्य करने का सबसे अधिक बुरा प्रभाव उसके स्वास्थ्य, विशेषत: मानसिक स्वास्थ्य, पर पड़ता है। जहाँ तक इंगलैंड का प्रश्न है, इस दोष का मूल उदार दल (लिबरल पार्टी) का नारा 'अवसर की समानता' है। कुछ समय पहले तक उच्च-शिक्षा के द्वार केवल धनाढ्यों के बालकों के लिये खुले थे। लेकिन लोकतन्त्र के आदर्श के प्रभाव के कारण यह महसूस किया जाने लगा कि उच्च-शिक्षा सभी योग्य छात्रों को सुलभ होनी चाहिए। यह भी माना जाने लगा कि इस योग्यता का मापदण्ड प्रमुखतया बालकों की बौद्धिक क्षमता ही होनी चाहिये। यह ठीक भी था। परन्तु इस विचार को कार्य में लाने मे गरीब छात्रो की आर्थिक अवस्था बाधक प्रतीत हुई। इसको दूर करने के लिये काफी छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की गयी। इन वजीफों को बालक के पूर्व छात्र-जीवन के कार्य और प्रतियोगात्मक

परीक्षा के आधार पर बाँटा जाने लगा। छात्रवृत्ति पाने की अवस्था में ही निर्धन छात्र उच्च-शिक्षा तथा उज्ज्वल भविष्य की कल्पना कर सकते हैं। इसके लिये उनको कठोर परिश्रम और इस प्रकार शक्ति से अधिक काम करने के लिये बाध्य किया जाता है। इस दौड़ में यह भी भुला दिया जाता है कि युवाओं के लिये यह दबाव हितकर नहीं है। फिर यह दबाव केवल बौद्धिक ही हो तो भी उतना बुरा नहीं है। यह बौद्धिक तथा भावनात्मक दोनों होता है। केवल चन्द घंटों की परीक्षा से युवा की किस्मत का फैसला हो जाता है। इसी फैसले पर उसके भावी जीवन की आर्थिक स्थिति तथा समाज में उसका स्थान निर्भर करता है। एक छोटी-सी परीक्षा का इतना बड़ा महत्त्व परीक्षार्थी को भावुक बना देता है। जरा एक निर्धन लेकिन कुशाग्र-बुद्धि छात्र की कल्पना कीजिये — उसकी बौद्धिक रुचियाँ विकसित हो गयी हैं। परन्तु अपनी आर्थिक अवस्था के कारण वह ऐसे लोगों के मध्य में बसा है, जो बौद्धिक रुचिपूर्ण होना तो रहा दूर, पुस्तकों तक से घृणा करते है। यदि उसे छात्रवृत्ति की प्राप्ति हो जाती है तो वह उच्च-शिक्षा प्राप्त करके अपनी क्षमताओं का पूर्ण विकास कर सकता है तथा अपने अनुकूल वातावरण मे रहने की कल्पना कर सकता है। यदि वह छात्र-वृत्ति प्राप्त करने मे असफल रहता है तो उसे केवल निर्धन जीवन ही व्यतीत नहीं करना पड़ेगा, बल्कि बौद्धिक रूप से एकाकी पूर्ण समय भी काटना पड़ेगा। यह वातावरण उसे दम घोंटने वाला प्रतीत होगा। इस भयावह विकल्प के फलस्वरूप वह व्यग्रतापूर्वक अध्ययन करेगा, जिसका परिणाम बौद्धिक कुशलता की समाप्ति हो सकता है।

यद्यपि विश्वविद्यालयों में अध्यापन करने वाला व्यक्ति इस महान् दोष से परिचित है, तिस पर भी इसका निराकरण काफी कठिन है। सभी छात्रो को विश्वविद्यालय तक की शिक्षा देना न तो आर्थिक आधार पर सम्भव है और न ही यह इच्छित भी है। अतः चुनाव करना आवश्यक हो जाता है। यह भी उचित ही है कि चुनाव का मुख्य आधार बौद्धिक क्षमता हो। पर बेहतर यह होगा कि इसका आधार केवल एक परीक्षा न हो। उसके स्थान पर अध्यापकों को छात्रों के कार्य के आधार पर विश्वविद्यालयों के लिये चुनने का अधिकार दिया जाये। हो सकता है कि इससे कुछ हद तक चापलूसी तथा पक्षपात को प्रोत्साहन मिले। परन्तु वर्तमान पद्धति के दोषों की तुलना में यह दोष कुछ नहीं। सबसे अच्छा तो यह होगा कि बालकों को बारह वर्ष की अवस्था में ही विश्व-विद्यालय के लिए चुन लिया जाय। इस चुनाव का आधार उनका ज्ञान न रखकर उनकी बौद्धिक क्षमता रख ली जाय। तत्पश्चात् बालकों की परिश्रमशीलता पर भी ध्यान दिया जाये। इस प्रकार छात्रों को विश्वविद्यालय-प्रवेश के लिये किसी परीक्षा मे नही बैठना पड़ेगा।

यह कार्य बुद्धि-परीक्षा की सहायता से किया जा सकता है। इन परीक्षाओं

का प्रचलन इंगलैंड में कम तथा अमरीका में बहुत है। यद्यपि इनसे प्राप्त परिणाम सदा सही नहीं होते, तिस पर भी आमतौर से ये परिणाम सही और विश्वसनीय होते हैं। फिर इन परीक्षाओं की एक और अच्छाई यह है कि इनके लिये परीक्षार्थी को पहले से किसी प्रकार की तैयारी नहीं करनी पड़ती है। इससे इनमें प्रतियोगात्मक परीक्षाओं में निहित दोष नहीं रहते।

जिस प्रकार मन्द-बुद्धि बालकों के लिये विशेष विद्यालयों की व्यवस्था है, उसी तरह कुशाग्र-बुद्धि बालकों के लिये भी नगर या घनी आबादी वाले ग्रामीण क्षेत्रों में अलग विद्यालयों का प्रबन्ध होना चाहिये। अमरीका में इस दिशा में कदम उठाये गये हैं।[1] लेकिन यह अभी प्रारम्भ मात्र ही है।

प्रखर-बुद्धि बालकों के लिये अलग विद्यालयों की व्यवस्था करने के परिणाम बड़े रुचिकर सिद्ध हुए हैं। औसत व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि सौ होती है। १९० बुद्धि-लब्धि वाला एक छात्र एक सामान्य विद्यालय में था। वहाँ उसका कोई दोस्त नहीं था। सभी छात्र उसे बेवकूफ समझते तथा चिढ़ाते थे। तत्पश्चात् उसे एक ऐसे विद्यालय में रखा गया, जहाँ के छात्रों की बुद्धि-लब्धि का औसत १६४ था। वहाँ जाते ही उसकी परिस्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया। उसकी बुद्धि चमक उठी और वह विद्यालय-भर का अगुवा बन गया। उसे "उत्तरदायित्व तथा सम्मान के कई पदों के लिये निर्वाचित किया गया।" यह उदाहरण इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि प्रखर-बुद्धि बालकों के लिये अलग विद्यालयों की व्यवस्था करना कितना लाभदायक होगा। मन्द-बुद्धि ही नहीं अपितु साधारण बुद्धि के छात्रों के साथ रहने से भी उन्हें जो पीड़ा और अत्याचार सहन करने पड़ते हैं, उनसे वे बच जायेंगे। लेकिन कुछ लोगों की धारणा है कि जीवन में हर प्रकार के लोगों से वास्ता पड़ने के कारण प्रारम्भ ही से हर किस्म के छात्रों के साथ रहने की आदत डालना हर छात्र के लिये आवश्यक है। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। जीवन में किसी को भी हर प्रकार के लोगों से व्यवहार नहीं करना पड़ता। पुस्तक-साज को कभी भी पुजारियों के मध्य नहीं रहना पड़ेगा और न ही किसी पुजारी को पुस्तक-साजों के साथ रहने की नौबत आयेगी। व्यक्ति अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार समाज में स्थान प्राप्त करता है। उन्हीं के आधार पर वह अपनी आजीविका के लिये पेशा ढूँढ़ता है। उसको आमतौर से अपने ही स्तर और पेशे के लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। मैं अपने जीवन में कूटनीतिज्ञों, अध्यापकों, शान्ति के उपासकों, कैदियों, राजनीतिज्ञों, आदि हर किस्म के लोगों के सम्पर्क में आया हूँ। लेकिन अपनी कोटि से भिन्न कोटि के व्यक्तियों को पीड़ा पहुँचाने की जितनी उत्कट कामना बालकों में होती है, उतनी

---

१. देखिये 'गिफ्टेड चिल्ड्रेन', लेखक हॉलिंगवर्थ, अध्याय नौ और दस।

मैंने किसी वर्ग के लोगों में नहीं पाई। प्रखर-बुद्धि बालकों का अपनी बुद्धि की कुशलता को छिपाये न रख सकना स्थिति को बदतर बना देता है। फलतः उनको सदा अपनी विशेषता के लिये संतप्त होना पड़ता है। उनमें से चन्द चतुर बालक पीड़ा से बचने के लिये अपने-आपको साधारण बुद्धि बालको की तरह प्रदर्शित करने लगते हैं। लेकिन यह उचित नही है। किसी भी कृषक की जन्तुशाला में गाय, भैंस, भेड़, बकरी, सूअर, बत्तख, मुर्गी, कबूतर, आदि एक साथ रहते पाये जा सकते है। सभी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार व्यवहार करते रहते हैं। सूअर सपने में भी बतख को अपने से भिन्न व्यवहार करने के लिये सज़ा देने की नही सोचता है। लेकिन विद्यालयो के सामान्य बुद्धि सूअर कुशाग्र-बुद्धि बत्तखों को अपने समान व्यवहार करते हुए अवश्य ही देखना चाहते है।

बुद्धिमान बालको के लिये विशेष विद्यालयों की व्यवस्था करने से कई लाभ होते हैं। अत्याचार और दमन से छुटकारा मिल जाने के कारण उनको न तो पीड़ा सहन करनी पड़ेगी और न ही उनकी कोमल-किसलय भावनाओं को ठेस पहुँचेगी। अभी तक कायरता की भावना के कारण बुद्धिमान व्यक्तियों को अपनी बुद्धि को प्रभावशाली लोगो की सेवा मे लगाना पड़ता है। ये लोग बहुधा मन्द-बुद्धि होते है। इस कायरता की बुनियाद इन्ही साधारण विद्यालयो में पड़ती है। विशेष विद्यालयों की व्यवस्था हो जाने से यह बुराई भी दूर हो जायेगी। साधारण बुद्धि वाले बालकों के साथ अध्ययन करने से उनको कई बाते बार-बार ऐसी पढ़नी पड़ती है, जिन्हें वे पहले से भली-भाँति समझ गये होते हैं। इस प्रकार उनके समय का दुरुपयोग होता है। कक्षा का वातावरण उनके लिये नीरस हो जाता है। उनके लिए अलग विद्यालय हो जाने से ये दोष दूर तो होंगे ही, साथ ही उनकी पढ़ाई और भी शीघ्रता से तथा ऊँचे स्तर की हो सकेगी। उनकी परस्पर बातचीत का स्तर ऊँचा होगा, जिससे उनके ज्ञान में स्थायित्व आ जायेगा। वे अपने खाली समय में ऐसे उच्च कोटि के मनोरंजक कार्य स्वच्छन्दता के साथ कर सकते है, जिनके कारण अन्यथा उन्हें दुःख उठाने पड़ते। साधारण विद्यालयों का वातावरण कुशाग्र-बुद्धि बालको को अटपटा लगता है, जिससे उनके पूर्ण तथा स्वस्थ विकास में बाधा पड़ती है। विशेष विद्यालयो से यह खराबी दूर हो जाएगी। इस प्रकार के विद्यालयों का केवल दो आधारो पर विरोध हो सकता है—प्रशासनिक कठिनाइयों तथा द्वेष-जनित भावना, जिसे लोकतन्त्र का जामा पहना दिया जाता है, के आधार पर।

भारी-भरकम शिक्षातन्त्र की यह एक बहुत बड़ी कमी है कि उसके अधिकतर शिक्षा-प्रशासक अध्यापक नहीं होते है। अतः उन्हे बालकों के अध्यापन का अनुभव नही होता है। इसलिए वे यह नहीं जान पाते हैं कि बालकों को कौन विषय किस मात्रा में पढ़ाया जाए। साधारणतया प्रौढ़ व्यक्ति यह मान लेते है कि बालक

बड़ी द्रुत गति से पढ लेते हैं। लेकिन बालकों के अध्यापन का जिन्हें अनुभव है, वे ही जानते है कि वे कितनी मन्दगति से पढते है। कोई विषय कितना ही उपयोगी क्यों न हो, यह आवश्यक नही है कि केवल उपयोगिता के आधार पर ही उसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाए। मुख्य विचारणीय प्रश्न यह है कि दिए समय में बालक उसे पढ़ भी पायेंगे या नहीं। अनुभवहीन व्यक्तियों द्वारा तैयार किए गये पाठ्यक्रम की एक बहुत बड़ी खामी यह होती है कि उसमें बालकों की ज्ञानार्जन-शक्ति के बाहर विषय शामिल किए जाते हैं। परिणाम यह होता है कि अव्वल तो वे कुछ सीख ही नहीं सकते और जितना सीख पाते हैं, वह भी गहन नहीं होता है। निस्सन्देह अध्यापकों को पाठ्यक्रम-विषयक अनुभव होता है। लेकिन उनके द्वारा तैयार किये गए पाठ्यक्रम में भी एक बड़ा दोष पाया जाता है। इसका मूल कारण यह होता है कि उन्हें अपने छात्रों को उनकी योग्यता के क्रम में रखने की चिन्ता होती है। ऐसा करने मे पाठ्यक्रम मे ऐसे विषयों को प्रमुखता देना, जिनके प्रश्नों का एक ही उत्तर सम्भव हो, उनके इस काम को सरल बना देता है। अस्तु वे पाठ्यक्रम मे ऐसे विषयों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि इंगलैंड के विद्यालयों मे अभी भी लैटिन व्याकरण का स्थान यथावत् है तो भी अंकगणित को जरूरत से अधिक समय दिया जाता है। बेशक साधारण व्यक्ति के लिए अपने जीवन में गणित के सामान्य नियम उपयोगी हो सकते है। परन्तु उसके जटिल नियम उसके किस प्रयोजन के ? यही बात लैटिन के लिए भी सत्य है। छात्र का जितना समय इन विषयों के बेकार अध्ययन में जाता है, उसके बदले यदि वह उतने ही समय में शरीर-विज्ञान तथा स्वास्थ्य-विज्ञान-सरीखे विषयों की शिक्षा ले सकता तो वह जीवन के लिए कुछ उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर लेता। लेकिन अध्यापक ऐसे विषयो को कैसे पाठ्यक्रम में शामिल होने दे सकते है ?

बालक की क्षमता से बाहर अध्यापन की समस्या महत्त्वपूर्ण और जटिल दोनों है। इससे बालक अपनी मौलिकता, स्वच्छन्दता, आत्म-विश्वास और स्वास्थ्य को खो बैठता है। परिणामतः वह समाज का उतना लाभकारी सदस्य नही हो पाता है, जितना वह अन्यथा हुआ होता। इस आधार पर यह समस्या इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसकी उपेक्षा करना समाज और व्यक्ति दोनों के लिए काफी हानिकर होगा। यह समस्या कठिन भी है। सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ-ही-साथ मनुष्य का जीवन जटिलतर होता चला जा रहा है। सभ्य व सुसंस्कृत जीवनयापन करने तथा समाज का एक उपयोगी सदस्य होने के लिये उसको कुछ आवश्यक बातों की जानकारी जरूरी होती है। यह केवल शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए इस समस्या से हम केवल इतना कहकर ही छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकते हैं कि "बालक-बालिकाओं को शिक्षा के लिए परेशान न करके उनको अपनी इच्छा पर छोड़ दिया जाए।" हमारी वर्तमान समाज-व्यवस्था इतनी अधिक जटिल हो गयी

है कि सुविज्ञ तथा सुप्रशिक्षित सदस्यों के बिना वह टिक नहीं पाएगी। उदाहरण के लिए वर्तमान संसार-व्यापी मन्दी को ही लीजिए। इसका एकमात्र कारण सम्बन्धित लोगों के अज्ञान की वजह से दूरदर्शिता की कमी है। यदि बैंक-व्यवसायियों तथा राजनीतिज्ञों को मुद्रा और साग के विषय में ज्ञान होता तो हमें ऐसे आर्थिक संकट न देखने पड़ते तथा हमारी अवस्था आज से काफी अच्छी होती। दूसरा उदाहरण लिया जाए— विज्ञान आज बड़ी द्रुतगति से तरक्की कर रहा है। पिछले वैज्ञानिक अनुसन्धानों के ज्ञान के आधार पर ही यह प्रगति सम्भव हो पा रही है। फिर भी यह सही है कि साधारणतया तीस वर्ष के बाद व्यक्ति में मौलिक विचारों और अनुसंधान की क्षमता कम रहती है। इसलिए वैज्ञानिक प्रगति के दृष्टिकोण से भी यह आवश्यक हो जाता है कि विज्ञान के छात्र को पच्चीस वर्ष की उम्र तक अपने विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाए। इस हेतु अध्यापन आवश्यक हो जाता है। फिर आवागमन तथा सचार के सुलभ साधनों ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है। उसके छोटे होने के साथ-ही-साथ उसका जीवन जटिल भी होता चला गया है। उसकी हलचलों को समझने तथा उसमे कुछ कर पाने के लिए नागरिक को इस जटिल व्यवस्था का ज्ञान होना आवश्यक है। उसके लिए उसको अच्छी खासी जानकारी होनी जरूरी है। आज रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों और भावुकता का उसके लिए कोई उपयोग नहीं है। इन सब बातों के आधार पर बौद्धिक शिक्षा एक आवश्यकता बन गई है।

इस समस्या का हल केवल मध्यम-मार्ग का अनुसरण हो गया है। अध्यापन उचित मात्रा में आवश्यक तो है, परन्तु साथ-ही-साथ यह भी खयाल रहे कि वह बालक की शक्ति के बाहर न हो। इसके लिए तीन बातों को मद्देनजर रखना चाहिए। सबसे पहली बात यह है कि छात्र को अध्ययन में मानसिक दबाव महसूस न हो। शारीरिक और बौद्धिक थकानें नींद तथा आराम के द्वारा समाप्त हो जाती है। लेकिन चिन्ता आराम को भी हराम कर लेती है। उससे सर्वप्रथम नीद तो आती ही नहीं और यदि आती भी है तो सपनों के कारण सोना भी न सोने के समान हो जाता है। अतः इस बात की भरसक कोशिश की जाए कि शिक्षा-काल में शिक्षार्थी को किसी प्रकार की चिन्ता न हो।

पाठ्यक्रम से बेकार विषयों को निकाल दिया जाना चाहिए। यह दूसरी प्रमुख आवश्यकता है। लेकिन इससे यह न समझा जाए कि बालकों को केवल उनके लिए उपयोगी ज्ञान की शिक्षा ही दी जाए। किसी विषय का अध्यापन केवल उसके काफी समय से पढ़ाये जाते रहने के आधार पर ही जरूरी न समझा जाए। मुझे इतिहास के विद्यार्थियो से बात करने का अवसर मिला है। उन्हे हर कक्षा में हेंगेस्ट और होर्सा से लेकर नार्मन विजय तक का इतिहास पढ़ाया जाता है। लेकिन उसके परे उन्हें कुछ मालूम नही रहता है। दूसरा उदाहरण मेरा स्वयं

अपना है। हो सकता है कि यह मेरा ही अज्ञान हो, तिस पर भी अभी तक मैं यह नहीं जान पाया हूँ कि आठवीं सदी के मर्सिया और वैसेक्स राज्यों के परस्पर-सम्बन्ध क्या थे। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि इतिहास में कई बातें जानने योग्य है। लेकिन वे हमारे छात्रों को कभी नहीं बताई जाती हैं।

बहुधा उच्च-शिक्षा भी केवल विशेष प्रश्नों का विशेष उत्तर मालूम करने तक ही सीमित रहती है। इससे शिक्षार्थियों की अन्वेषण-वृत्ति को कोई प्रोत्साहन नही मिलता है। यह उच्च-शिक्षा के महत्त्व को ही समाप्त कर देता है। तीसरी बात, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है, यह है कि छात्रों को स्वाध्याय तथा अन्वेषण के लिए अनुप्रेरित किया जाए। इस मार्ग मे भी वर्तमान परीक्षा-प्रणाली बाधक होती है। उदाहरण के लिए यदि किसी छात्र को अंग्रेजी साहित्य की प्रारम्भिक परीक्षा में प्रवेश करना हो तो उसके लिए महान् साहित्यकारों की किसी कृति को पढने का कष्ट करना आवश्यक नही है। परीक्षा में सफलता पाने के लिए केवल कुछ सूचनाओं को कठस्थ कर लेने भर की आवश्यकता होती है। इसके लिए मूल कृतियो को छूना भी जरूरी नही है। दीपिकाओं, आदि पुस्तकों के द्वारा ही आवश्यक सूचना प्राप्त की जा सकती है। अच्छी शिक्षा मौलिक ग्रंथों के प्रयोग को प्रोत्साहित और दीपिकाओं, आदि को अनावश्यक बना देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्नातकोत्तर शिक्षा में इस बात को प्रोत्साहित किया जाता है। लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं होगा। इसके पूर्व की शिक्षा में भी मूल पुस्तकों के अध्ययन पर बल दिया जाए तथा छात्रो में उनके प्रति रुचि पैदा की जाये। छात्रों को अनुसंधान-कार्य के लिए प्रोत्साहित किया जाए। परन्तु इसमें उनके द्वारा केवल रूढ़िगत विचारों के पोषण तथा प्रतिपादन को उतना महत्त्व न दिया जाए, जितना उनके मौलिक विचारो तथा उनके पक्ष में दिए जाने वाले सुपुष्ट तर्कों को। इस प्रकार छात्रो मे अपनी सूझ से कार्य करने तथा स्वतन्त्र मत रखने की क्षमता तो आयेगी ही, साथ-ही-साथ अध्ययन के प्रति रुचि भी पैदा होगी। इससे अध्ययन से होने वाली बौद्धिक थकान काफी हद तक कम हो जाएगी क्योंकि बौद्धिक थकान का प्रमुख कारण मन को नीरस प्रतीत होने वाले विषय मे अपने-आपको बाध्य होकर लगाना है। अध्ययन में रुचि पैदा हो जाने से नीरसता समाप्त हो जाएगी और साथ-ही-साथ काफी सीमा तक समाप्त हो जायेगी—बौद्धिक थकान। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी !

इन बातों का अनुसरण करने से छात्र नवीन ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। इसके साथ-ही-साथ उसकी मौलिकता भी बनी रहेगी। लेकिन यह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हमारी शिक्षा और समाज-व्यवस्था में परीक्षा तथा प्रतियोगिता का महत्त्व बना है। प्रतियोगिता केवल शिक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर ही अनिच्छित नही है, अपितु छात्र के लिए एक आदर्श के रूप में अस्पृहणीय भी है। वर्तमान

विश्व को प्रतियोगिता-भावना से प्रेरित नागरिक की नही, बल्कि संगठन तथा सहकार-भावना से काम करने वाले नागरिक की आवश्यकता है। प्रतियोगिता की उपयोगिता में विश्वास इस युग की विचार-धारा के अनुरूप नही है। फिर इस भावना में निहित विचार मानवोचित भी नही हैं। यह भावना दूसरों के प्रति द्वेष और उनको हराने के विचारों से प्रेरित होती है। वर्तमान समाज में पग-पग पर सहकार-भावना से काम लेना पड़ता है, इसलिए प्रतियोगिता की भावना के रंग में रँगा व्यक्ति इस समाज के योग्य नही है। अतः आर्थिक और आचार-शास्त्रीय दोनों दृष्टिकोणों से छात्रों में प्रतियोगिता की भावना को जाग्रत करना व्यक्ति और समाज किसी के लिए लाभकर नही है।

१२

साम्यवादी व्यवस्था में शिक्षा

पिछले अध्यायों में हमने व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था-प्रधान समाज के अन्तर्गत शिक्षा पर विचार किया। व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था तथा पितृसत्तात्मक परिवार की संस्था का क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, इस पर भी इन अध्यायो में दृष्टिक्षेप किया गया। ऐसे समाज की शिक्षा के दोषों से पाठक अवगत हो ही गये होंगे। अब जरा उससे विलकुल भिन्न समाज-व्यवस्था—साम्यवादी व्यवस्था—के अन्तर्गत दी जाने वाली शिक्षा पर गौर किया जाए और देखा जाए कि वह शिक्षा पूंजीवादी शिक्षा से किस हद तक अच्छी या बुरी है।

साम्यवादी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत दी जाने वाली शिक्षा पर विचार करने से पूर्व हम यह जान लें कि विश्व का एकमात्र साम्यवादी देश—रूस—अभी अपने निर्माण मे व्यस्त है। वह अभी संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहा है। अत: उसकी वर्तमान शिक्षा-पद्धति को हम पूरी तरह से साम्यवादी शिक्षा नहीं कह सकते। अभी तक इस क्षेत्र मे वहाँ पर जो कुछ किया गया है, वह केवल पुरानी और नवीन शिक्षा के मिश्रण के रूप मे है। अत: उसकी वर्तमान शिक्षा पर अधिक ध्यान देने के बजाय शिक्षा पर उसके नायको के विचारों, जिनके अनुसार उनकी भावी शिक्षा का स्वरूप निर्धारित होगा, पर ही अधिक गौर करना बेहतर होगा। राज्य-क्रान्ति के समय रूस की अधिकांश जनता अशिक्षित थी। जनता का अस्सी प्रतिशत कृषक-समुदाय था, जो अपने स्वभाव से ही रूढिपन्थी होता है। क्रान्ति की सफलता के पश्चात् भी धन, विद्यालय भवनों तथा अध्यापकों की कमी शिक्षा-सुधार के क्षेत्र मे बाधक बनी रही। इसके बावजूद इस क्षेत्र में अभी तक इतना अधिक कार्य कर लिया गया है कि हम कल्पना कर सकते हैं कि साम्यवादी शिक्षा का रूप क्या होगा। इसलिए हम सबसे पहले शिक्षा के क्षेत्र मे किए जाने वाले कार्यों पर विचार करेंगे और तत्पश्चात् भावी साम्यवादी शिक्षा के स्वरूप पर गौर करेंगे।

द्वितीय राज्य विश्वविद्यालय मास्को के अध्यक्ष श्री एल्बर्ट पी० पिंकेविच ने अपनी पुस्तक 'दी न्यू एजूकेशन इन दी सोवियट रिपब्लिक' (विलियम्स एण्ड

न्यूगेट लिमिटेड, लन्दन द्वारा प्रकाशित) मे साम्यवादी शिक्षा का विवरण प्रस्तुत किया है। इसे काफी हद तक अविकृत विवरण कहा जा सकता है। इस पुस्तक के पाठक साम्यवादी शिक्षा तथा पाश्चात्य शिक्षा की समता को देखकर आश्चर्य-चकित हुए बिना न रह सकेंगे। लिखना, पढ़ना और हिसाब लगाना ऐसी बाते हैं, जिन पर अर्थ-व्यवस्था का विशेष प्रभाव नही पड़ता। स्वास्थ्य-शिक्षा भी विवादहीन विषय है। इन विवादहीन विषयों के अतिरिक्त इंगलैंड और अमरीका की शिक्षा-प्रणालियो में काफी समय से सम्मिलित बालचर-दल, नैतिकता की शिक्षा, राज-भक्ति की शिक्षा, आदि बाते रूस की शिक्षा में भी मौजूद है। संयुक्त राज्य अमरीका के विश्वविद्यालय अध्यक्ष के समकक्ष पद का उल्लेख यहाँ भी मिलता है। इन समताओं के बावजूद काफी विषमताएँ भी है। ये ही विषमताएँ इस शिक्षा की विशेषता होने के कारण विचारणीय भी है।

पिछले पृष्ठों में शिक्षा का समाज-व्यवस्था से सम्बन्ध दिखलाया गया है। सभी साम्यवादी इस सम्बन्ध मे विश्वास करते हैं। पिंकेविच ने पश्चिमी पूँजी-वादी मुल्कों के विद्यालयों के सम्बन्ध मे लेनिन के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया है—

> "पूंजीवादी राज्य जितने अधिक सभ्य रहे, उन्होने जनसाधारण को धोखे मे डालने के लिए उतने ही अधिक सूक्ष्म साधनों का उपयोग किया। उनके कहने के अनुसार तो उनके विद्यालय राजनीतिक प्रभाव से परे रहकर समस्त समाज की सेवा करते थे, लेकिन असलियत यह थी कि वे विद्यालय पूंजीपतियो के हाथ मे अपने वर्ग की श्रेष्ठता को बनाए रखने के साधन-मात्र थे। वे वर्गवाद की भावना से अनुप्रेरित थे और पूंजीपतियो के लिए दब्बू भू-दास तथा योग्य मजदूर उपलब्ध बनाने के साधन थे।"

इसके विपरीत साम्यवादी राज्यों में विद्यालय श्रमिक-वर्ग की श्रेष्ठता के साधन बनेगे। नैतिक-शिक्षा केवल श्रमिक-वर्ग को वर्ग-संघर्ष में सहायता प्रदान करने के लिए होगी। फिर लेनिन की निम्न पंक्तियो को उन्होने उद्धृत किया है—

> "मानवीयता तथा वर्ग-संघर्ष पर आधारित न होने वाली नैतिकता को हम स्वीकार नहीं करते। सामन्तों तथा पूंजीपतियों के हितार्थ मजदूरों को अज्ञान के अन्धकार में रखने की चेष्टा करने वाली नैतिकता कोरी धोखे की टट्टी हैं। हमारी यह स्पष्ट उक्ति है कि हमारी नैतिकता पूर्णतया मजदूरों के वर्ग-संघर्ष के हितार्थ है।"

इसका तात्पर्य यह होगा कि मजदूरों के वर्ग-संघर्ष में विजयी होने के पश्चात् नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाएगा। लेकिन पिंकेविच के निम्नांकित

शब्दों से पता चलता है कि उसके पश्चात् भी साम्यवादी समाज के लिए नैतिकता का महत्त्व बना रहेगा--

> "सोवियत रूस की शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे व्यक्ति के समग्र विकास का प्रयास करना होगा जो स्वस्थ, बहादुर, स्वतन्त्र विचारों तथा कार्यों वाला, सामयिक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं से सुपरिचित तथा श्रमिकों के हित के लिए, और इस प्रकार समस्त मानवता के हितार्थ, कोई भी कुर्बानी करने के लिए तैयार हो।"

इन पंक्तियों में 'श्रमिक' शब्द का उल्लेख अनायास और अनावश्यक तौर से हो गया है। यदि इस शब्द को निकाल लिया जाए तो स्पष्टतः नैतिकता का एक ऐसा विचार प्राप्त होता है, जिसमें कोई भी साम्यवादी तत्त्व नहीं है। लेकिन संक्रमण-काल में इसके क्रियान्वयन पर विशेष ध्यान न होकर प्रचार-कार्य पर अधिक बल दिया जाएगा। इसलिए इस काल में "युवकों को सर्वहारा-वर्ग के दर्शन से परिचित कराना प्रमुख उद्देश्य होगा।"

पिंकेविच महसूस करते हैं कि "चरित्र-निर्माण के दृष्टिकोण से शैशव और बाल्यावस्था का समय निस्सन्देह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समय है।" उनका विचार है कि शिशु का लालन-पालन परिवार में न होकर शिशु-शालाओं में होना चाहिए। यह केवल उन्हीं के लिए हितकर नहीं होगा, अपितु "ऐसे समाजवादी राज्य की प्रतीति में भी सहायक होगा, जिसमें नारी घर की चहारदीवारी के अन्दर के नीरस तथा अनुपयोगी कार्य से छुटकारा पाकर पुरुष के कंधे-से-कन्धा भिड़ाकर कार्य कर सके।" उनका विचार है कि शैशव तथा बाल्यावस्था में विद्यालय का असर परिवार के असर से बेहतर होता है—

> "हमारी वर्तमान विद्यालयों की आलोचना इस बात पर आधारित है कि वहाँ ऐसे बालकों की शिक्षा की चेष्टा की जाती है, जो अपना तीन-चौथाई समय विद्यालय तथा उसके वातावरण के असर से दूर बिताते हैं तथा विद्यालय में कुछ सूचनाएँ, आदतें तथा प्रवृत्तियों को लेकर आते है। शिशु-गृह मे बच्चा अपनी शैशवावस्था या बाल्यावस्था के प्रारम्भ मे प्रवेश करता है तथा प्रौढावस्था प्राप्त करने तक वहीं रहता है। वह निस्सन्देह शिक्षा का श्रेष्ठतर साधन है।···शिशु-गृह में हम बिना किसी कठिनाई के एक शिक्षोपयोगी वातावरण बनाए रख सकते है। इसके विपरीत अन्य विद्यालयों में परिवार तथा अन्य प्रभावों के अधिक प्रभावकारी होने के कारण हम कुछ नही कर सकते।"

इन उद्धरणों से सोवियत राज्य की कामनाओं की झाँकी मिल सकती है। लेकिन अभी तक इनको व्यवहार-रूप में नहीं लिया जा सका है। पाठशाला जाने की

उम्र के पूर्व के केवल चार या पांच प्रतिशत शिशु ही शिशु-संस्थाओं में जाते है। सार्व-जनीन अनिवार्य शिक्षा भी केवल आठ से बारह वर्ष की वय के बच्चों तक सीमित है।

सोवियत शिक्षा न तो अधिक शास्त्रीय ही है और न ही केवल ज्ञान देने तक सीमित रहती है। इन अर्थों में यह शिक्षा अन्य देशों की शिक्षा से भिन्न है। "शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान देने तक ही सीमित नही होना चाहिए। विद्यालय में बालक के जीवन का संगठन कुछ इस प्रकार हो कि उसे अनायास ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाए। सत्य तो यह है कि हमारा विद्यालय 'जीवन का विद्यालय' होना चाहिए।" "विद्यालय का वातावरण वास्तविक जीवन के अनुरूप होना चाहिए। उसमें उत्पादक-श्रम को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। उसके कार्य-कलाप ऐसे हों जिससे बालकों में सामाजिक प्रवृत्तियो का विकास सम्भव हो तथा उनको भविष्य के क्रान्तिकारी साम्यवादी बनने की शिक्षा मिल सके।" बालक विद्यालय में केवल पाठ ही नहीं पढ़ते है, अपितु अपनी शक्ति के अनुसार शारीरिक श्रम भी करते हैं। वे यह कार्य शिक्षा के रूप में नहीं, वल्कि एक नागरिक के रूप मे करते हैं। पिंकेविच के अनुसार, "विद्यालय में शारीरिक श्रम का सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ा महत्त्व है।...जिस विद्यालय में शारीरिक श्रम को केवल उपयोगिता या कर्मेन्द्रियों की शिक्षा-हेतु महत्त्व दिया जाए, उसे समाजवादी या साम्यवादी विद्यालय नही कहा जा सकता है। इसका प्रमुख महत्त्व तो इसमें है कि छात्र स्वयं को एक श्रमजीवी समाज का सदस्य महसूस करे।" यह रूस की शिक्षा की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है।

बालकों को क्या शारीरिक श्रम करना चाहिए तथा एतदर्थ कितना समय दिया जाना चाहिए, इसके सम्बन्ध में पिंकेविच ने कुछ विस्तारपूर्वक नहीं लिखा है। वे लिखते है, "छात्रों का फैक्टरियों या मिलों के उत्पादन-कार्य मे भाग लेना विद्यालय में किए जाने वाले शारीरिक श्रम का भाग कहा जा सकता है; क्योंकि यह कार्य विद्यालय के नियमित जीवन का एक अंग होता है।" देहातों में स्थित विद्यालयों में खेत, मिलों या फैक्टरियों का स्थान ले लेते है। इस सम्बन्ध मे जूलियन हक्सले सही कहते हैं कि—

> "देहातों में विद्यालयों का कृषि-क्षेत्रों से अनुबन्धन नगरों के विद्यालयो के मिलों से अनुबन्धन से श्रेष्ठतर है। क्योंकि कृषि इतना विस्तृत विषय है कि उसमें ग्राम्य-जीवन का प्रत्येक पहलू प्रतिबिम्बित होता है। इसके विपरीत मिल केवल उद्योगों को ही प्रतिबिम्बित करने के कारण नगर-जीवन के सभी अंगों का प्रतीक नहीं है। फिर विद्यालय का कृषि-क्षेत्र से अनुबन्धन शिक्षा के दृष्टिकोण से भी अच्छा है।"[१]

१. 'ए साइंटिस्ट इन दी सोवियट्स', पृष्ठ १०२।

लेकिन यह दृष्टिकोण सोवियत-शिक्षकों के दृष्टिकोण से भिन्न है। वे शारीरिक श्रम को प्रमुखतया नैतिक अनुशासन के लिए आवश्यक बतलाते हैं। पिकेविच के शब्दों में, "अध्ययन तो जरूरी है ही, लेकिन इसके साथ-ही-साथ वास्तविक जीवन के क्रिया-कलापों की शिक्षा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समाजवादी श्रमिक-विद्यालयों में ये क्रिया-कलाप सामाजिक और उपयोगी होने चाहिए।···विद्यालय में किए जाने वाले सामाजिक तथा उपयोगी कार्य छात्रों के दृष्टिकोण से निर्धारित किए जाएँ या समाज के हित के ख्याल से? हमारे विचार से द्वितीय दृष्टिकोण—समाज का हित—को स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि ये क्रिया-कलाप अपनी शैक्षिक उपयोगिता के आधार पर नहीं, बल्कि समाज की उपयोगिता के आधार पर ही आधारित होंगे।

विद्यालयों द्वारा किए जाने वाले समाजोपयोगी कार्य दो भागों—आन्दोलन व प्रसार तथा प्रयोगात्मक कार्य—में बँटे हैं। प्रथम के अन्तर्गत छात्र विविध प्रकार के आन्दोलन चलाते हैं; उदाहरणार्थ—हल-चक्र; चुनाव में 'योग्यतम' उम्मीदवारों का प्रचार; धर्म, मलेरिया, खटमल, तम्बाकू पीना, शराब पीना, आदि का विरोध। प्रयोगात्मक कार्य भी इतनी ही विविधता लिए होते हैं। इन कार्यों में अनाज को फार्मेलीन से कीट-रहित करना, वृक्षारोपण से गहरे कटाव की रक्षा, कृषकों के घरों में बिजली की बत्तियाँ लगाना, 'चुनाव-साहित्य' का वितरण, निरक्षरों को समाचार-पत्र पढ़कर सुनाना, विधवाओं की सहायता करना, आदि सम्मिलित हैं।

सोवियत शिक्षा का उद्देश्य बालक को केवल विश्व का ज्ञान कराना ही नहीं है, अपितु उसको उसे परिवर्तित करने में सहायता देना भी है। पिकेविच के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य "मार्क्सवाद के अनुसार विश्व का पुनर्निर्माण करना है।" यदि साम्यवादी शिक्षा को भली-भाँति समझना है तो यह स्मरण रखना होगा कि इस शिक्षा में 'ज्ञान ज्ञान के लिए है' के विचार को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। ज्ञान के प्रयोग में ही उसके अर्जन की महत्ता है।

विद्यालय-पूर्व की शिक्षा के पैंतीसवें अखिल रूसी सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया। यह उसके मार्क्सवादी दृष्टिकोण को उतना नहीं दिखलाता है, जितना उसके रूसी रूप को। प्रस्ताव इस प्रकार है—"शिशु का जीवन संगीत-पूरित होना चाहिए। उसके काम, खेल तथा विश्राम सभी संगीतमय वातावरण में होने चाहिए। अध्यापक को बालकों की व्यक्तिगत रुचियों तथा रचनावृत्ति का ध्यान रखना चाहिए। उसे संगीत-साजों (आर्केस्ट्रा) और सामूहिक गानों का आयोजन करके उनको संगीत के अभ्यास का अनुभव कराना चाहिये।" यह उचित ही है। लेकिन साम्यवादी शायद ही अंग्रेजी के अध्यापन को भी इतना संगीतमय

बनाना चाहेंगे।

अन्य देशों की साम्यवादी रूस के प्रति द्वेष-भावना ने उसमे युद्धजनक प्रवृत्ति पैदा कर ली है। फलस्वरूप उसकी शिक्षा मे भी वे तत्त्व मिलते है, जिनको अन्य देशों में देश-प्रेम की भावना के कारण जन्म मिला। रूस के 'तरुण नायक' (यंग पायनियर) अन्य देशों के बालचरों के प्रतिरूप है। उनके नियम और प्रतिज्ञाएँ भी एक ही प्रकार की हैं। उनके नियम है —

"(१) तरुण नायक श्रमिकों की हित-रक्षा तथा लेनिन के नियमों का पालन करता है।

"(२) तरुण नायक कॉम्सोमल और साम्यवादी का अनुज तथा सहायक होता है।

"(३) तरुण नायक अन्य तरुण नायकों और विश्व के श्रमिकों तथा कृपकों के बच्चों का साथी होता हैं।

"(४) तरुण नायक अपने पड़ोस के सभी बालकों को संगठित करता है तथा उनके साथ सामाजिक जीवन मे योग देता है। वह सभी बालकों तथा तरुणों के लिये आदर्श हैं।

"(५) तरुण नायक ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता हैं। ज्ञान तथा दक्षता उसे श्रमिकों के हितार्थ कार्य करने हेतु शक्ति प्रदान करते है।"

तरुण नायकों की एक शपथ भी हैं—

"मैं, सोवियत संघ का एक तरुण नायक, अपने साथियों की उपस्थिति में प्रण करता हूँ कि —(१) मैं विश्व के मजदूरों तथा कृपकों के स्वातन्त्र्य-संग्राम में श्रमिकों के हित की रक्षा करूँगा; (२) मैं लेनिन की शिक्षाओं और तरुण नायकों के नियमों व रीति-रिवाजों का अक्षरशः पालन करूँगा।"

यद्यपि हमसे कहा जाता है कि सोवियत सरकार किसी नैतिकता मे विश्वास नही करती; तिस पर भी इन नियमों तथा प्रतिज्ञाओं के अक्षरशः पालन पर जैसा ध्यान दिया जाता है, उससे एक प्रकार की नैतिकता की झाँकी मिलती ही है। तरुण नायक को ज्ञानार्जन के लिए प्रयत्नशील तथा अन्य बालकों के लिए आदर्श बनने के लिए व्यग्र देखने की कल्पना करके मुझे अपने बचपन की आदर्श बाल-जीवन विषयक पुस्तकों का स्मरण हो आता हैं।

प्रतिक्रियावादियों के विचारों से अवगत लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि साम्यवादियों के यौन-विषयक विचार उनसे कुछ अधिक भिन्न नहीं है। पिंकेविच के अनुसार, "माता-पिता तथा अध्यापकों को बालकों में काम के प्रति अनावश्यक रूप से अधिक रुचि पैदा न होने देने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।" तरुण की शक्ति को "व्यायाम, खेल-कूद, शारीरिक श्रम, बौद्धिक-कार्य, तरुण नायक आन्दोलन तथा अन्य ऐसे सामाजिक कार्यों में लगा देना चाहिए, जिनमें

परिश्रम की आवश्यकता हो। यदि वालक को इन वातों में ही व्यस्त रखा जाए तो उसमें काम-वासना जाग्रत होने की सम्भावना वहुत कम रह जाएगी।" पर-लैंगिक आकर्षण को उत्साहित न करने हेतु सह-शिक्षा उचित वतलाई गई है। छात्रों को यौन-ज्ञान केवल उतना ही दिया जाये, जितना अति आवश्यक समझा जाए। अधिक ज्ञान छात्रों में "यौन-सम्वन्धों के प्रति अस्वास्थ्यकर और अनिच्छित विचारों को जन्म दे सकता है।" पिंकेविच कुत्तों, मुर्गियों, घोड़ों, आदि की सम्भोग-क्रिया का छात्रों द्वारा निरीक्षण किए जाने वाले सुझाव को अनिच्छित तथा भयावह वतलाते हैं तथा कहते हैं कि "यदि यौन-विषयों की अलग से तथा विस्तृत शिक्षा न दी जाए तो वालकों तथा तरुणों का ध्यान हर समय उन्हीं विषयों पर केन्द्रित न रहेगा।" उनका विचार है कि यौन-विषयों की शिक्षा अलग से न दी जाकर "उनसे अधिक रुचिकर तथा महत्त्वपूर्ण विषयों" की शिक्षा के सन्दर्भ में दी जानी चाहिए। इससे उनको आवश्यक ज्ञान की प्राप्ति तो हो जाएगी, लेकिन भावोत्तेजना नहीं होगी। ये विचार चाहे सारयुक्त हों या सारहीन, इतना स्पष्ट है कि इनमें कोई ऐसी विशेषता नही है, जिससे इन्हें क्रान्तिकारी कहा जा सके। सत्य तो यह है कि सह-शिक्षा-विषयक विचार को छोड़कर, अन्य सभी विचार इंगलैंड के विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों की तरह हैं।

रूस में शिक्षा की वर्तमान अवस्था के आधार पर साम्यवादी शिक्षा के विषय में धारणायें वनाना उचित नही होगा। एक तो वहाँ सरकार अभी शिक्षा के सम्वन्ध में अपने कई महत्त्वपूर्ण मन्सूवों को व्यवहार में नहीं ला सकी है; फिर विश्व-भर में पूँजीवादी तथा साम्यवादी विचारधाराओं के मध्य चल रहे संग्राम से वर्तमान साम्यवादी शिक्षा इतनी अधिक प्रभावित है कि समस्त संसार में साम्यवाद का प्रसार हो जाने के उपरान्त की शिक्षा का अनुमान लगा सकना बहुत कठिन है। मैं स्वयं रूस में १९२० ई० के पश्चात् नहीं जा सका हूँ। उस समय तक वहुत कम शिक्षा-सुधार सम्भव हो सके थे। उस समय मुझे वालवाड़ियों (नर्सरी स्कूल) को देखने का अवसर मिला था, वहाँ शिशुओं को हर सम्भव शारीरिक सुविधाये उपलव्ध थी। लेकिन ज्यों ही वे वोलने तथा समझने योग्य होते थे, उन्हे साम्यवादी सिद्धान्तों की शिक्षा दी जानी प्रारम्भ कर दी जाती थी। मुझे वड़े वच्चों के शिक्षालयों को देखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनमें साज-सज्जा की अति कमी थी। तिस पर भी उनमें सुधार के हर सम्भव उपाय किए जा रहे थे। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों से मिलने पर मुझे मालूम हुआ कि उनकी अवस्था अच्छी नही थी। सन् १९२० ई० के उपरान्त सोवियत शिक्षा-जगत् में होने वाले जिन परिवर्तनों की मुझे विश्वस्त सूत्रों से सूचना मिली है, उनकी तुलना में मेरे ये अनुभव कुछ नहीं हैं।

धर्म तथा काम-विषयक वर्तमान रूसी तथा पाश्चात्य विचारधाराओं में

विशेष अन्तर नहीं है। यद्यपि रूस में अलग धर्म की शिक्षा दी जाती है और पश्चिम मे अलग धर्म को; तिस पर भी दोनों के अध्यापन के तरीको मे काफी समता है। दोनों अन्धानुकरण को प्रोत्साहित करते है। यदि पाश्चात्य देशो मे ईसाइयत के आधारभूत सिद्धान्तो को तर्कना की कसौटी पर रखना अनिच्छित समझा जाता है तो रूस में साम्यवाद के सिद्धान्तो की बारीकी से जाँच निरुत्साहित की जाती है। वर्तमान अवस्था में साम्यवाद दो अर्थों में ईसाइयत से लाभकर परिस्थिति में है—प्रथमतः, साम्यवाद के असर मे आने वाले युवक उसके प्रति आस्था रखते है तथा उत्साहित रहते है। द्वितीयतः, साम्यवाद में विश्वास करने वाले बुद्धिजीवी युवक मानते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में साम्यवाद ही उपयोगी है। ईसाइयत को भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यह लाभकर परिस्थिति सुलभ थी। लेकिन समय के साथ ही उसकी इस परिस्थिति का भी अन्त हो गया। अतः प्रश्न उठता है कि मार्क्सवाद विजयी होने तथा स्थायित्व ग्रहण कर लेने के पश्चात् कब तक इस लाभकर अवस्था में रह सकेगा? फिलहाल मार्क्सवाद का प्रसार ऐसे देश में हो रहा है जो अविकसित अवस्था में है तथा जिसकी जनसंख्या उसके क्षेत्रफल की तुलना में बहुत कम है। अतः वहाँ का वातावरण आशामय है। एक बार अमरीका भी उसी स्थिति मे था। वहाँ आर्थिक विकास के लिए बहुत बड़ी सम्भावनायें प्रस्तुत थीं। अतः उसके तथा उसके शासन-तत्र—लोकतंत्र—के प्रति यूरोप के लोगों में बड़ा उत्साह था। आज उसी भौगोलिक स्थिति मे मार्क्सवाद है। जिस दिन उसे ऐसे देश मे फैलाव की आवश्यकता होगी जो पूर्ण विकसित हो, तो यह ऐसी लाभकर स्थिति में नही रह पायेगा। उस समय वह जन-मन मे उतनी आशा तथा उत्साह का सचार नही कर सकेगा, जितना वर्तमान रूस में।

आज मार्क्सवाद काफी कट्टर तथा उग्र है। यदि उसकी ये प्रवृत्तियाँ जारी रही तो यह बौद्धिक विकास के लिये बहुत बाधक होगा। अभी भी विज्ञान की कई बातें ऐसी है, जो साम्यवाद के नियमों तथा मान्यताओं से मेल नही खातीं। क्वांटम सिद्धान्त पर आधारित परमाणुवाद इसका एक उदाहरण है। साम्यवाद की एक प्रमुख मान्यता यह है कि मनुष्य-स्वभाव की हर विशेषता का आधार आर्थिक होता है। लेकिन यह मान्यता हर जगह सही नही उतरती; उदाहरणतः, गरम देशों के लोगों में सुस्ती का प्रमुख कारण आर्थिक न होकर अंकुश-कृमि (हुक वर्म) द्वारा शक्ति का क्षय है। मार्क्सवाद की आधारशिला वर्ग-सघर्ष है। यह सिद्धान्त प्रमुखतया इसी से सम्बन्धित है। इसका उद्देश्य वर्ग-विहीन समाज की स्थापना बतलाया जाता है। लेकिन मार्क्सवादी विचार-धारा के प्रतिपादक वर्ग-संघर्ष में इतने व्यस्त रह गये है कि वे अपने सपनों के वर्ग-विहीन समाज का ही स्पष्ट चित्रण नहीं कर सके है। इस प्रकार मार्क्सवाद के सिद्धान्त जहाँ विज्ञान के आधार-भूत नियमों से मेल नहीं खाते है, वहाँ उसमें ही कई कमियाँ रह गई हैं।

अतः कट्टर मार्क्सवाद का ईसाइयत का स्थान लेना भी वैज्ञानिक प्रगति के लिए उतना ही बाधक होगा, जितना ईसाइयत हो चुकी है।

अभी तक साम्यवादी-दर्शन प्रभावोत्पादक है। लेकिन जिस दिन साम्यवाद विजयी हो जायेगा, उस दिन उसका दर्शन इतना प्रभावकारी तथा आकर्षक नही रह जायेगा। साम्यवाद केवल एक आर्थिक सिद्धान्त है, जिसे आर्थिक तथा राजनीतिक आधारों पर ही आँका जाना चाहिए। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म) का सिद्धान्त तथा इतिहास की अर्थशास्त्रीय टीका असल में साम्यवाद के अविच्छिन्न अंग नहीं हैं। जिस दिन साम्यवाद को एक आर्थिक सिद्धान्त के रूप मे किसी ओर से कोई भय नही रहेगा, उस दिन साम्यवादी शासन-तंत्र मे उसके आलोचको के दमन की कोई आवश्यकता नही रहेगी। निस्सन्देह मार्क्स और लेकिन फिर भी पूज्य समझे जायेंगे। लेकिन तब उनकी उक्तियों को आलोचना की सीमा से बाहर मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। हमे आशा करनी चाहिए कि साम्यवाद की वर्तमान कट्टरता संक्रमण-काल की केवल एक आवश्यकता है और जैसे ही संघर्ष मे विजय के चिह्न प्रतिलक्षित होने लगेंगे, यह कट्टरता भी स्वतः समाप्त होती चली जायेगी।

यही बात वर्ग-सघर्ष के लिये भी सही है। पूँजीवादी शिक्षा का दोष यह है कि वह पूँजीपतियों की हितकामना से प्रभावित है। दूसरी ओर साम्यवादी शिक्षा श्रमिकों की हित-साधना का एक साधन है। यह भी उसका दोष ही है। साम्यवादी शिक्षा के अन्तर्गत श्रमिक के बालक के लिए शिक्षा के सभी स्तर के द्वार उन्मुक्त रहते है। लेकिन पूँजीपति के बालक को उच्च-शिक्षा की सुविधा प्राप्त करने में कठिनाई होती है। यह कमी भी केवल संक्रमणकालीन है। साम्यवाद की पूर्ण विजय के पश्चात् वर्ग-विहीन समाज के कारण यह दोष भी दूर हो जायेगा।

साम्यवादी परिवार को समाप्तप्राय देखना चाहते है। पर्याप्त धन उपलब्ध होने पर बच्चो की शिक्षा का सम्पूर्ण भार शिक्षालयों को सौंप दिया जायेगा। बच्चो का अपने माता-पिता से सम्पर्क नही के बराबर रहेगा। जिस दिन साम्यवादी अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे, परिवार का अस्तित्व समाप्तप्राय हो जायेगा। यह स्थिति लाभकर होगी या अलाभकर, इस पर मैं एक पिछले अध्याय मे विचार कर चुका हूँ। यहाँ पर पिष्टपेषण करने का मेरा इरादा नहीं है। लेकिन इस विषय में दो राय नही हो सकती है कि चाहे भले के लिये हो या बुरे के लिये, यह पूर्ण विकसित साम्यवादी शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता होगी।

वर्तमान साम्यवादी शिक्षा की कई ऐसी विशेषताएँ है, जिनके आधार पर वह पूँजीवादी शिक्षा से श्रेष्ठ कही जा सकती है। प्रतियोगिता को समाप्त कर व्यक्तिगत कार्य के स्थान पर सामूहिक कार्य को प्रोत्साहन उन विशेषताओं में से एक है। निस्सन्देह इगलैंड तथा अमरीका-सरीखे मुल्को के कुछ प्रगतिशील

विद्यालय भी ऐसा कर सकते हैं। लेकिन प्रतियोगिता तथा प्रतिद्वन्द्विता-प्रधान समाज से घिरे होने के कारण अन्ततः उन्हें भी अपने छात्रों को प्रौढ जीवन मे आने वाली परीक्षाओं तथा प्रतियोगिताओं के लिये तैयार करना ही पड़ता है। लेकिन इन देशों में ऐसे विद्यालय समाज के प्रतिबिम्ब न होकर, उससे नितान्त भिन्न होंगे। उनका वातावरण कृत्रिमता लिये हुए होगा। यह सिद्धान्त रूप मे ही अनिच्छित है। ऐसे विद्यालयों में शिक्षित छात्रों को अपने-आपको समाज के अनुकूल बनाने में कठिनाई होगी। रूस के छात्रों को इस कठिनाई का सामना नही करना पडेगा। वहाँ विद्यालय तथा समाज दोनों ने प्रतियोगिता समाप्त कर ली गई है। इस कारण वहाँ के छात्रों और फिर नागरिकों में सहकारिता की जो भावना सरलता से सम्भव हो सकती है, उसकी पाश्चात्य देशीय वातावरण मे कल्पना करना भी कठिन है।

छात्रों का सामाजिक कार्यों मे भाग लेना सोवियत शिक्षा की दूसरी विशेषता है। इसके गुण और दोष दोनों हैं। लेकिन जहाँ तक मेरा विचार है, इसके गुण इतने अधिक हैं कि उनको देखते हुए इसके दोष नगण्य लगते है। फिलहाल वहाँ छात्रों को प्रचार-कार्य अधिक करना पड़ता है। उनको छोटी उम्र से ही पक्का साम्यवादी तथा उसका प्रचारक बना लिया जाता है। हो सकता है कि इस प्रकार उनमें एक अनिच्छित आत्मतुष्टि तथा अपने देश, शासनतंत्र, आदि की महानता की गलत भावना घर कर जाये, तिस पर भी इस प्रकार छात्रों मे स्वय के समाज के एक अंग होने तथा अपनी शक्ति-भर उसकी सेवा करने की जो भावना जाग्रत होती है, उसकी अच्छाई के समक्ष यह दोष भी कुछ नही है। पश्चिम के प्रगतिशील अध्यापक छात्र में उसकी अहम् भावना को जागृत करने की चेष्टा करते है। फलतः वह अपने-आपको बाल-सामन्त समझने लगता है तथा दूसरे लोगों से आशा करता है कि वे उसकी सेवा करे। लेकिन वास्तविक जीवन में दूसरों की सेवकाई प्राप्त कर सकना तो रहा दूर, उल्टे वह महसूस करता है कि वह सामाजिक बन्दिशों से बुरी तरह जकड़ा हुआ है तथा अपने मन की कुछ नहीं सकता है। उसका यह कटु अनुभव उसे अराजकता की ओर ले जाता है। सोवियत शिक्षा में यह दोष नही। वहाँ छात्र को प्रारम्भ से ही बतलाया जाता है कि वह समाज-रूपी यंत्र का एक छोटा-सा पुर्जा है तथा उसकी सेवा करने में ही उसके जीवन की सार्थकता है। उससे अलग उसका अपना कोई अस्तित्व नही है। छात्र के मन में इस भावना का संचार नसीहतों से उतना नहीं कराया जाता है, जितना उसके दैनिक कार्यों के अनुक्रम से। सोवियत शिक्षा की यह विशेषता प्रशंसनीय है: अभी तक जितने प्रमाण उपलब्ध हैं, उन पर यदि विश्वास किया जाये तो यही पता चलता है कि उस व्यवस्था में योग्यतम छात्र या नागरिक भी स्वयं को समाज का एक अविच्छिन्न अंग मानने में ही अपने को धन्य समझता है। इसके विपरीत

पश्चिम का युवक बहुधा जीवन से निराश होकर निरर्थक बातों में अपना समय बिताता है या समाज-विरोधी तत्त्वों में शामिल होकर समाज के लिये अभिशाप बन जाता है। सोवियत शिक्षा की एक महान् सफलता यह है कि उसने नवयुवक के सम्मुख एक ऐसा जीवन-दर्शन प्रस्तुत कर लिया है, जिसे वह प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर सकता है तथा अपने जीवन को तदनुकूल बना सकता है। पूँजीवादी शिक्षा अभी इस हल पर नहीं पहुँच सकी है। यह उसकी बड़ी विफलता है। इसका कारण यही है कि उसकी संस्थाएँ ही ऐसी हैं, जो पाखण्ड पर आधारित हैं।

इसके बावजूद यह मानना ही होगा कि इस शिक्षा का भी अन्धकारमय पहलू है। किसी भी प्राचीन सस्कृति में दीक्षित बुद्धिजीवी को साम्यवादी दृष्टिकोण छिछला तथा नीरस प्रतीत होगा। प्रत्येक समस्या या प्रश्न को अनावश्यक तौर से भी वर्ग-सघर्ष की कसौटी पर रखने की साम्यवादी प्रवृत्ति उसकी सुन्दरता को समाप्त कर लेती है तथा बौद्धिकता को निरुत्साहित करती है। विज्ञान-जगत् से एक उदाहरण देकर मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट करूँगा। तारों तथा नीहारिकाओं की पृथ्वी से दूरी की माप को ले लिया जाये। इन दूरियों की नाप मनुष्य-बुद्धि की मौलिकता, तर्कना-शक्ति तथा निरीक्षण का उज्ज्वलतम उदाहरण है। जहाँ तक मेरा खयाल है किसी भी तारे या नीहारिका की भूमि से निकटता तथा दूरी का वर्ग-संघर्ष के विचार पर कोई भी असर नहीं पड़ता है। इसके साथ ही इन दूरियों को नापने से वर्ग-संघर्ष का कोई सम्बन्ध नही है। ऐसे विषयों में भी वर्ग-संघर्ष के सवाल को लाना यदि वैज्ञानिक जिज्ञासा को पूर्णतया समाप्त कर देना नही तो उसे निरुत्साहित करना अवश्य है। वह वातावरण वैज्ञानिक जिज्ञासा-पूर्ति के लिये लाभप्रद नही होगा। मार्क्सवाद एक दूसरे दृष्टिकोण से भी दोषपूर्ण है। साम्यवादी प्रत्येक प्रश्न की तह में आर्थिक पहलू को देखना चाहते है। यह बात हर अवस्था में सही नही रहती। फिर आर्थिक पहलू को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना और भी अधिक दोषपूर्ण है। न्यूटन के कार्य के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। यदि यह मान भी लिया जाय कि आर्थिक कारणों से अनुप्रेरित होकर ही न्यूटन ने अनुसन्धान कार्य किये; तिस पर भी उनके अनुसंधान-कार्य इतने रुचिकर तथा महत्त्वपूर्ण हैं ही कि बिना उनके आर्थिक पहलू को देखे हुए उनका अध्ययन किया जाए। इसमें कोई सन्देह नही कि जीवन को बनाये रखने के लिये धन आवश्यक है। यह भी सही है कि साम्यवाद के द्वारा यह समस्या सरलता के साथ हल हो जाती है। लेकिन मनुष्य इतने से ही सन्तोष नही करता। उदरपूर्ति का प्रश्न हल हो जाने के बाद उसे कुछ बौद्धिक खुराक की आवश्यकता भी होती है। वह किसी ऐसे सिद्धान्त की कामना करता है, जिसके आधार पर वह भविष्य की कल्पना कर सके। ध्येय की सादगी तथा सुस्पष्टता आवश्यक तो है; लेकिन ये हो गुण किसी भी दर्शन के दोष हो जाते है।

सादगी नियोजन की विशेषता है। जहाँ तक रचनात्मक कार्यों के लिये नियोजन का प्रश्न है, यह उचित ही है। परन्तु जहाँ जीवन को ही नियोजित करने की चेष्टा की जाती है, वहाँ जीवन की प्रमुख आवश्यकतायें पूरी तो हो जाती है, लेकिन जीवन फिर भी नीरसता तथा अनाकर्षण का दूसरा काम हो जाता है। कभी-कभी यह एकरसता एक प्रकार की मानसिक विकृति की ओर ले जा सकती है। यह साम्यवाद की एक बहुत बड़ी कमी है। उसके प्रणेता जीवन को पूरा नहीं समझ पाये है। तिस पर भी रूस की क्रान्ति से पहले की सभ्यता व संस्कृति को देखते हुए इतनी आशा की जा सकती है कि साम्यवादी उसके जीवन को उतना अधिक सादा नहीं बना सकेंगे। यह सादगी शिक्षा के क्षेत्र में और अधिक नुकसानदायक होती है। जहाँ गुत्थीदार समस्याएँ हल करने को नही, वहाँ बौद्धिक उच्चता की आशा करना निरर्थक है। जीवन उतना सादा और सरल नही है, जितना मार्क्सवादी उसे समझते हैं। वह विविधताओं और गुत्थियों से पूरित है। 'डास कैपीटल' के दर्शन में शिक्षित तथा आस्था रखने वाली पीढ़ी का व्यक्ति समाज के लिये लाभकर, सुखी तथा शक्तिशाली हो सकता है; लेकिन वह बुद्धिमान और जीवन की बारीकियों तथा दर्शन की गहनता को समझने वाला नही हो सकता। वह अपनी कमियों से अनभिज्ञ रहेगा। उसका ज्ञान गहनता लिये हुए नहीं होगा। मैं ऐसा किसी राजनीतिक दृष्टिकोण से नही कह रहा हूँ। केवल दार्शनिक दृष्टिकोण से अनुप्रेरित होकर ही यहाँ पर ये विचार रखे गये है।

मेरा मत है कि विशुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से हमारा निर्णय कुछ और ही होना चाहिये। साम्यवाद ही कुटुम्ब तथा लैंगिक समानता का हल निकाल सका है। हो सकता है कि कुछ लोगों को यह हल पसन्द न हो; तिस पर भी यह मानना ही होगा कि केवल साम्यवादी ही इस गुत्थी को सुलझा सके है। वे ही एक ऐसी शिक्षा-पद्धति को निकाल सके हैं, जिससे प्रतियोगिता की समाज-विरोधी भावना समाप्त की जा सकती है। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था ही स्वामी तथा सेवक के भेद-रूपी कोढ़ से स्वतन्त्र है। पश्चिमी देशों की शिक्षा वास्तविक जीवन से बहुत दूर है। इसका मूल उस शिक्षा का मठों की शिक्षा पर आधारित होना है। फलतः पश्चिम का बुद्धिजीवी अपने समाज का एक निरुपयोगी सदस्य है। साम्यवादी शिक्षा ने यह बुराई भी दूर कर ली है। वहाँ विद्यालय तथा समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा छात्र और नागरिक अपने समाज के उपयोगी सदस्य है। साम्यवाद युवकों तथा युवतियों को एक ऐसी आशा प्रदान करता है, जिसकी प्रतीति असम्भव नही है। यदि यह विश्व-भर मे छा जाये, जैसी कि सम्भावना हो सकती है, तो इसके सभी प्रमुख दोष दूर हो जायेंगे। अतः इसकी कमियों के बावजूद, इन अच्छाइयों के आधार पर इसे हमारा सहयोग प्राप्त होना ही चाहिये।

१४

शिक्षा तथा अर्थशास्त्र

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि वर्तमान पश्चिमी शिक्षा के कई दोष हैं। कुछ लोगों का विचार है कि शिक्षा के सभी दोष गलत अर्थ-व्यवस्था के फल-स्वरूप हैं। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। मेरा मत है कि प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में कोई-न-कोई कमी अवश्य होती है। मनुष्य सत्ता-लोलुप है तथा कोई भी अर्थ-तंत्र उसकी लोलुपता को समाप्त नहीं कर सकता है। इन कमियों के कारण किसी भी अर्थतंत्र के अन्तर्गत दी जाने वाली शिक्षा दोषरहित नहीं हो सकती है। आर्थिक परिस्थितियों का शिक्षा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। मैं इस अध्याय में विभिन्न कालों में विभिन्न देशों की शिक्षा के आर्थिक पहलू पर प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा।

तमो-युग (डार्क-एजेज) के पश्चात् यूरोपीय शिक्षा का पुनरुद्धार हुआ। उस समय शिक्षा केवल धर्माचार्यों के लिये आवश्यक समझी जाती थी। फलतः शिक्षा मठों तक ही सीमित थी। यूरोप की आज की शिक्षा पर भी इन मठों की शिक्षा की छाप है। पुनर्जागरण-काल (रीनेसाँ) के पूर्व सामन्त साधारणतया सुशिक्षित नहीं होते थे, जबकि धर्माचार्य सुशिक्षित तथा विद्वान् होते थे। किसी भी व्यवसाय के लिये लैटिन का प्रारम्भिक ज्ञान सभी लोगों के लिये आवश्यक समझा जाता था। पर वह इतना कम होता था कि उससे किसी प्रकार की विद्वत्ता नहीं आ सकती थी। ग्यारहवीं, बारहवीं तथा तेरहवीं सदी में यूरोपवासी मूर जाति (विशेषतः सिसिली और स्पेन में) के सम्पर्क में आये। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा और ज्ञान को प्रोत्साहन मिला। निस्सन्देह इस सम्पर्क का मूल कारण आर्थिक था; तिस पर भी शिक्षा पर इसका कोई आर्थिक असर न पड़ा। इससे केवल थोड़े लोगों[1] की बौद्धिक जिज्ञासा जाग्रत हो गई। इसके फलस्वरूप ज्ञान-वृद्धि हुई। लेकिन यह ज्ञान-वृद्धि केवल जिज्ञासा-पूर्ति के लिये थी, न कि किसी प्रकार के आर्थिक लाभ के लिये। बौद्धिक स्वतन्त्रता-युगीन (स्कालेस्टिक एज)

१. देखिये 'दी लिगेसी ऑफ इजारयाल', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ २०४।

दर्शन तथा मध्यकालीन शिक्षा-साहित्य चंद धर्माचार्यों की जिज्ञासा तथा परिश्रम के फल थे। यह परिश्रम केवल उनकी 'स्वान्तः सुखाय' की भावना का फल था। इससे उन्हें किसी प्रकार का आर्थिक लाभ नहीं होता था। लाभ तो रहा दूर, उल्टे उनमें से कुछ को अपने विचारों के लिये बदनाम किया गया। शिक्षा-साहित्य के इस पुनरुद्धार में धर्म-गुरुओं ने बड़ा योग दिया। उनका यह काम किसी आर्थिक लाभ के लिये न होकर केवल अपनी ज्ञान-पिपासा की सन्तुष्टि के लिये होता था।

सामन्तों में शिक्षा का प्रसार कुछ देर से हुआ। यह प्रसार भी किसी प्रकार के धन-लाभ की भावना से अनुप्रेरित नहीं था। सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय के समय से धर्म-निरपेक्ष संस्कृति का उदय हुआ। फ्रेडरिक अपनी युवावस्था से ही मुसलमानों के सम्पर्क में आये। इस सम्पर्क से शिक्षा व साहित्य के प्रति उनकी रुचि जाग्रत हुई। पन्द्रहवीं सदी में इटली में ग्रीक शिक्षा का पुनरुत्थान तथा दरबारी संस्कृति का जागरण हुआ। तदनन्तर उसका उत्तर की ओर प्रसार हुआ। अभी तक इस प्रसार का एकमात्र कारण ज्ञान-पिपासा की तुष्टि थी। लेकिन इस उद्देश्य में जल्दी परिवर्तन हो गया। अब लैटिन तथा ग्रीक का ज्ञान भद्र व्यक्ति के लिये आवश्यक समझा जाने लगा। बालकों को उनकी इच्छा के विरुद्ध भी इन दोनों भाषाओं को सीखने के लिये बाध्य किया जाने लगा। इससे शिक्षा व साहित्य के प्रति रुचि का ह्रास होने लगा। इस अवस्था मे भी ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य आर्थिक लाभ नहीं रहा। बेशक अब यह दिखावे की भावना से अनुप्रेरित होने लगा। सामन्त के अशिक्षित होने पर भी उसकी प्रभावशाली तथा लाभकर परिस्थिति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता था; तिस पर भी उसके पास इतने साधन और समय होता था कि वह केवल दिखावे के लिये शिक्षा प्राप्त कर सके। धर्म-गुरुओं की तरह ही सामन्तों के ज्ञानार्जन में भी किसी प्रकार की उपयोगिता की भावना निहित नहीं रहती थी।

ज्ञानार्जन किसी अन्य भावना से न होकर केवल ज्ञान-पिपासा की सन्तुष्टि के लिये होना चाहिये—यह भावना काफी समय तक बलवती रही। आज भी विश्व-विद्यालयों तथा चन्द दार्शनिकों (जिनमें से मैं भी एक हूँ) में यह भावना पाई जाती है। लेकिन इस बीच कुछ परिस्थितियों के कारण शिक्षा के उद्देश्य मे परिवर्तन हो गया है। इस पर सबसे अधिक प्रभाव सार्वजनीन अनिवार्य शिक्षा का पड़ा है। यह देखा गया है कि शिक्षित युवक-युवती अशिक्षितों से बेहतर नागरिक तथा श्रमिक होते हैं। अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अनिवार्य शिक्षा-पद्धति चालू की गयी। इस हेतु चालू की जाने वाली शिक्षा प्रयोगात्मक तथा शास्त्रीय दोनों होनी चाहिये थी। रूस की शिक्षा इसका अच्छा उदाहरण है। लेकिन शास्त्रीय शिक्षा में दीक्षित तथा शास्त्रीय परम्पराओं में पले प्रशासक ऐसी

शिक्षा की व्यवस्था न कर सके। फलतः प्रारम्भिक शिक्षा प्रमुखतया पुस्तकीय ही रही। तिस पर भी आमतौर से देखा जाए तो इस शिक्षा ने राज्य को अच्छे नागरिक तथा कुशल कारीगरों को सुलभ बनाने में योग दिया ही। इस प्रकार आज भी हर सभ्य देश के प्राथमिक विद्यालय उसकी सरकार के हाथ के हथकण्डे बने हैं।

विज्ञान और उद्योगों का विकास दूसरा कारण था, जिसने शिक्षा के उपयोगी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया। उद्योगों के प्राविधिक कार्यों को जानने के लिये विज्ञान का ज्ञान जरूरी होता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान-कार्य को, जो किसी राष्ट्र के वैभव तथा महत्त्व का द्योतक है, आगे बढ़ाने के लिये भी विज्ञान की अच्छी शिक्षा आवश्यक हो जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति को प्रमुख और साहित्य व कला के शिक्षण को गौण स्थान मिलना चाहिये। लेकिन अभी तक रूस के अतिरिक्त यह किसी देश में सम्भव नहीं हो सका है। इसका कारण भी पुराने दृष्टिकोण में दीक्षित शिक्षा-प्रशासकों का नये युग की माँग के अनुसार अपने-आपको जल्दी न बदल सकना है। तिस पर भी अब धीरे-धीरे विज्ञान तथा व्यावसायिक विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है और वह समय दूर नहीं, जब इन विषयों को उनके महत्त्व के अनुसार शिक्षा में पूरा स्थान प्राप्त होगा।

शिक्षा पर आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। अब हम क्रमशः उन पर विचार करेंगे।

प्रथमतः, किसी राष्ट्र के शिक्षा के सम्बन्ध में जो भी विचार हों, उनको व्यवहार-रूप देना काफी हद तक उसकी आर्थिक अवस्था पर निर्भर करता है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पाश्चात्य देशों की आर्थिक अवस्था में बड़ा सुधार हुआ। उसके पश्चात् ही इन देशों मे सार्वजनीन अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था सम्भव हो सकी। पश्चिम के सम्पर्क में आने के पूर्व से ही चीन के लोगो में शिक्षा व साहित्य के प्रति अभिरुचि थी। लेकिन अर्थाभाव के कारण वहाँ पाँच प्रतिशत से अधिक जनता को शिक्षित करना सम्भव न हो सका। अपने देश इंगलैंड में ही १७८० ई० में क्या १८३० ई० तक भी हर किसी को शिक्षा-सुविधा सुलभ बनाने के लिए नये कर लगाना नामुमकिन था। अभी भी केवल चन्द स्थानों मे ही बालवाडियो (नर्सरी) की स्थापना हो सकी है। हर व्यावहारिक ज्ञान रखने वाला व्यक्ति जानता है कि किसी व्यक्ति का उत्पादक-कार्य उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगो को उसके कार्य के अनुपात में गरीब बना लेता है। एक की समृद्धि दूसरों के दैन्य पर आधारित होती है। अतः उत्पादकों का हित इसी में होता है कि उत्पादकों की संख्या सीमित रहे। इस आधार पर तथा वर्तमान बेरोजगारी को देखते हुए यह अच्छा होगा कि बालको की विद्यालय छोड़ने की उम्र को बढ़ा दिया जाये। इससे आर्थिक प्रगति मे सहायता मिल सकेगी। लेकिन इसके परिणाम-

स्वरूप शिक्षा-व्यय मे बहुत वृद्धि हो जाएगी। इसे देखते हुए अभी तक विद्यालय छोडने की उम्र बढाना सम्भव नहीं हुआ है। फिर इंगलैंड में धार्मिक आधार पर भी इस उम्र का बढ़ाना कठिन हो रहा है। यहाँ के विभिन्न सम्प्रदाय इस विषय पर एकमत नहीं हो सके है कि छात्र-छात्राओ को विद्यालय में किन रीति-रस्मों तथा अन्ध-विश्वासों की शिक्षा दी जाये, जिनके अनुसार वे प्रौढ जीवन में आचरण कर सकें।

द्वितीयत:, उत्पादन को बढ़ाना शिक्षा के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है। इसी की पूर्ति के लिये सब के लिए शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। यह सही भी है कि केवल शिक्षित श्रमिक ही क्षमता के साथ कार्य कर सकता है। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी नहीं भूला जाना चाहिये कि व्यवसाय तथा विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था करने और अनुसंधान को प्रोत्साहन देने से भी उत्पादन बहुत बढ़ सकता है। परन्तु अभी तक हमारे देश में इन विषयों पर बहुत कम व्यय किया जाता है। इसके लिए वे प्रशासक जिम्मेदार है, जो केवल शास्त्रीय विषयो मे दीक्षित होने के कारण इस तथ्य को महसूस नहीं कर सकते हैं। ज़रा चिकित्साशास्त्र-विषयक अनुसंधान-कार्य को ही ले लिया जाए। जीवन के प्रारम्भ और अन्त में व्यक्ति की उत्पादन-क्षमता नगण्य होती है। अत: अपनी इस वय में वह समाज के ऊपर भारस्वरूप रहता है। केवल व्यक्ति के जीवन का मध्य-काल ही समाज के लिए लाभजनक होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इस अवस्था में लाने तथा इसे अधिकतम लम्बी बनाने में ही समाज का हित है। एतदर्थ शिशु मृत्यु-दर को सीमित रखने तथा अच्छे स्वास्थ्य की बहुत बड़ी आवश्यकता है। चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में अनुसंधान-कार्य इन आवश्यकताओं की पूर्ति करके देश को फायदा पहुँचा सकता है। दूसरा उदाहरण कीट-विज्ञान का है। इस क्षेत्र में अनुसधान खेती को कीड़े-मकोड़ों से होने वाली हानि से बचा सकता है। लेकिन इतने अधिक लाभप्रद कार्यों के लिये भी कोई धन खर्च करना अपव्यय समझा जाता है। अन्य औद्योगिक विषयो के क्षेत्र में अनुसंधान का लाभ इतना स्पष्ट है कि मुझे उसमें जाने की आवश्यकता नहीं है। आज शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्ति भी वैज्ञानिक ज्ञान की उपयोगिता के विषय में अनभिज्ञ है। हम आशा करें कि यह अज्ञान अन्तत: दूर हो जायेगा और फलत: पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को और अधिक महत्त्व दिया जायेगा तथा उनके अध्यापन और अनुसधान पर और अधिक व्यय किया जायेगा।

तृतीयत:, किसी समाज में सम्पत्ति के वितरण का उसकी शिक्षा पर बहुत असर पड़ता है। यह असर पीछे दी गई बातों से भी अधिक गहन होता है। संपत्ति के वितरण के आधार पर ही समाज वर्गों में विभाजित होता है। सामान्यतया विभिन्न वर्गों की शिक्षा उनकी आर्थिक दशा के अनुरूप होती है। पूँजीवादी

समाज-व्यवस्था मे मजदूरों को सबसे कम तथा बौद्धिक व्यवसायों की आकांक्षा करने वालों को अधिकतम शिक्षा मिलती है। इनके अतिरिक्त केवल सभ्य सुसंस्कृत जीवन-यापन हेतु शिक्षा लेने तथा व्यापार मे प्रवेश करने वालों के लिए सामान्य शिक्षा ही आवश्यक समझी जाती है। साधारणतया कोई बालक अपने माता-पिता के वर्ग का ही सदस्य होता है। लेकिन अपवाद-स्वरूप कुछ बालक-बालिका ऐसे भी हो सकते है जो समाज में अपने माता-पिता की निम्नस्थिति के बावजूद अपनी बुद्धि की प्रखरता के कारण छात्रवृत्ति या अन्य आर्थिक सहायता प्राप्त करके ऊँची शिक्षा हासिल कर सकते हैं। इस प्रकार सभी सम्भव व्यवसायों या पदो के द्वार उनके लिए उन्मुक्त हो जाते है। तदनन्तर वे अपने माता-पिता के वर्ग के स्थान पर एक अन्य वर्ग के सदस्य बन जाते है। वर्ग की यह परिवर्तनशील सदस्यता उद्योग-प्रधान समाज की विशेषता है। यह विशेषता सामन्तवादी समाज में नही पाई जाती। इसी कारण सामन्तवादी समाज राज्य-क्रान्तियों के लिए आदर्श आधार बन जाता है।

'पूँजीवादी' कही जाने वाली समाज-व्यवस्था काफी जटिल है। इस अध्याय की चर्चा के विषय के नाते हमे इस पर जरा बारीकी से विचार करना होगा। सोवियत रूस के अलावा अन्य सभी देशों मे भू-स्वमित्व, पैतृक-परिवार में उत्तराधिकार की व्यवस्था और उद्योग-धन्धे सम्पत्ति के तीन प्रमुख स्रोत हैं। लोगों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार इनमे से विभिन्न का पक्ष लिया है। हेनरी जार्ज भू-स्वामित्व के आधार पर सम्पत्ति की प्राप्ति के विरोधी थे तथा अन्य दो स्रोतों—पितृसत्तात्मक परिवार मे उत्तराधिकार और उद्योग-धन्धे—के पक्षपाती थे। कैथोलिक धर्मगुरुओं में भू-स्वामित्व सम्पत्ति का मुख्य साधन है। वे उद्योग-धन्धों के द्वारा भी धनार्जन कर सकते है। लेकिन उत्तराधिकार में सम्पत्ति प्राप्त करने का उनके लिए कोई प्रश्न नही उठता। यहूदियो के विरोधी उद्योग-धन्धों के द्वारा धनार्जन के साधन को समाप्त कर देना चाहते हैं। भू-स्वामित्व तथा पैतृक-उत्तराधिकार द्वारा सम्पत्ति हासिल करने की व्यवस्था सामन्तवादी-युग से चली आ रही है। इसलिए ये साधन उद्योग-धंधों की तुलना में समाजवादियों की अधिक आलोचना के विषय रहे है। जहाँ तक उद्योगों के द्वारा धन प्राप्त करने का प्रश्न है--यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इससे समाज को हानि अधिक होती है या लाभ। कम-से-कम हेनरी फोर्ड के उदाहरण से तो यही लगता है कि इससे हानि की तुलना में लाभ ही अधिक होते हैं। उत्तराधिकार की व्यवस्था सामाजिक वर्गों का मूल है। विशेषत: शिक्षा में इससे दोष आ जाते है। उच्च कुल के बालकों को जिस कोटि की शिक्षा सुलभ रहती है, वह श्रमिको के बालको को नही होती। अमरीकन तथा यूरोपीय दोनों समाजों में आज उद्योगों का बोलबाला है। यूरोप के औद्योगीकरण के पूर्व वहाँ सामन्तवाद की प्रमुखता थी। उस समाज

में आज भी सामन्तवादी प्रवृत्तियां प्रतिलक्षित होती है। इसके विपरीत अमरीकन समाज इस असर से पूर्ण स्वतन्त्र है। इस भिन्नता का असर भी बिलकुल भिन्न है। अमरीकन समाज में उद्योग-धन्धों को धन-प्राप्ति का मुख्य साधन समझा जाता है। वहाँ के युवकों की प्रवृत्ति यूरोपीय युवको से बिलकुल भिन्न है। वे अपने परिश्रम से उन्नति को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। यह बहुत अच्छा है। लेकिन इसके साथ-ही-साथ वे प्रतियोगिता की भावना की उपयोगिता में भी विश्वास करते हैं। यह एक समाज-विरोधी तत्त्व है। हो सकता है कि किसी भी समाज-व्यवस्था से प्रतिद्वन्द्विता तथा वर्ग-भेद को मिटाना सम्भव न हो; पर अन्याय व अत्याचार-रहित समाज में प्रस्तुत प्रतिद्वन्द्विता तथा वर्ग-भेद भिन्न प्रकार के होगे। वे उतने दोषपूर्ण नही होगे। साम्यवादी समाज में भी कुछ ऐसे पद होंगे जो अन्य पदों की अपेक्षा अधिक अधिकारपूर्ण होंगे तथा उन पर कार्य करना अधिक आनन्ददायक होगा। इन पदो पर कार्य करने वालो का अपना एक अलग वर्ग बन जायेगा, जिसकी परिस्थितियाँ अन्य वर्गों की परिस्थितियों से अधिक सुखकर होंगी। इन पदों की अन्य पदो से श्रेष्ठता के कारण उनको प्राप्त करने के लिए होड़ मचेगी। यह होड़ अन्य प्रकार की समाज-व्यवस्था में चलने वाली होड़ से इन अर्थों में भिन्न होगी कि इसमें किसी व्यक्ति को पैतृकता या श्रेष्ठ शिक्षा का लाभ नही होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मौलिक क्षमताओ के आधार पर इस दौड़ मे शरीक होगा। यदि किसी को अपने अन्य साथियों से उच्च शिक्षा भी सुलभ होगी तो यह भी केवल उसकी योग्यता के कारण ही होगा, न कि उसके माता-पिता की विशेष परिस्थितियों के कारण। इस प्रकार समाज में उच्च वर्ग की सदस्यता भी प्रत्येक व्यक्ति की अपनी योग्यता पर ही आधारित होगी। किसी भी श्रेष्ठ वायलिन-वादक को अपने सामान्य योग्यता वाले दूसरे साथी से सदा ऊँचा ही स्थान प्राप्त होगा। यदि उसे अपने साथी से अधिक वेतन नही तो सम्मान तो अवश्य ही मिलेगा। इतनी असमानता तथा प्रतिद्वन्द्विता तो हर अवस्था में रहेगी ही। व्यक्तियों की जन्म-जात असमानताओ के कारण इस असमानता को मिटाना सम्भव नही है। फिर अधिक महत्त्वपूर्ण तथा कठिन कार्य के लिये योग्यतम व्यक्तियों की ढूँढ के लिए भी प्रतियोगिता आवश्यकीय है। इसी कारण बालक की क्षमता से अधिक अध्यापन की समस्या, जिसपर पीछे विचार हो चुका है, और अधिक निकट हो जाती है। समाज में प्रस्तुत आर्थिक विषमताओं तथा सुरक्षा की कमी के कारण ही शिक्षा के क्षेत्र में प्रतियोगिता अधिक भीषण तथा दुखदायी हो जाती है। जिस समाज मे आर्थिक असमानताओं की इति-श्री हो जायेगी तथा व्यक्ति और उसके बच्चों को सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध रहेगी, वहाँ प्रतियोगिता उतनी अधिक भयानक तथा दुःखकर नही होगी।

देशभक्ति की भावना कई प्रेरणाओं के मिश्रण की प्रतीक है। व्यक्तिगत

सम्पत्ति की व्यवस्था से भी इसका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना अप्रत्यक्ष है कि साधारण व्यक्ति इसे नहीं समझ सकता। पूँजीवादी प्रवृत्ति इस सम्बन्ध का आधार है। अविकसित मुल्क से पूँजीपति को दो लाभ होते है। उसे वहाँ से सस्ते दामों पर कच्चा माल मिल सकता है तथा वह वहाँ अपने तैयार माल की खपत कर सकता है। यदि ये देश पूँजीपति के देश के अधीन हों तो वह और भी अधिक लाभ उठाने की स्थिति मे हो जाता है। फ्रांसीसी पूँजी के लिए उत्तरी अफ्रीका, ब्रिटिश पूँजी के लिए भारत तथा अमरीकी पूँजी के लिए मध्य अमरीका बड़े उर्वर स्थल हैं। पूँजीपति अपने लाभार्थ परतन्त्र देशों को अधिकतम समय तक परतन्त्र देखना चाहते है। इस प्रकार वे साम्राज्यवाद के हिमायती बन जाते हैं। साम्राज्यवाद को बनाये रखने के लिए देशवासियो को देश-प्रेम के नाम पर हर सम्भव प्रयत्न और बलिदान करने के लिए कहा जाता है। इस हेतु किया जाने वाला प्रचार एक प्रकार से पूँजीपतियों की स्वार्थ-साधना हेतु ही है। पूँजीपतियों द्वारा अपने हितार्थ किये जाने वाले कार्य तथा राज्य के इस प्रचार में केवल इतना अन्तर है कि पहले का व्यय-भार पूर्णतः पूँजीपति को वहन करना पड़ता है तो दूसरी अवस्था मे समस्त राष्ट्र को उसकी हित-साधना हेतु व्यय करना पड़ता है। शक्तिशाली राष्ट्रों के नागरिको की देश-भक्ति का यही रहस्य है। कितना आश्चर्य है कि देश-प्रेम के नाम पर अपने प्राणों को न्योछावर कर देने वाले लोग पूँजी-पतियों के इस राज को नही समझ सकते। निर्बल व परतन्त्र राष्ट्रों की राष्ट्री-यता बलशाली व साम्राज्यवादी राष्ट्रों के विरोध में निहित रहती है। जब तक वे शोषण का विरोध करते रहते है और उसके खिलाफ लड़ते रहते है, उनका नैतिक पक्ष सबल रहता है। लेकिन दुःख तो यह है कि वे ही राष्ट्र दूसरे ही दिन सबल या स्वतन्त्र हो जाने पर उसी मार्ग पर प्रवृत्त होने लगते है, जिसके लिये वे भूत-काल मे सबल व साम्राज्यवादी राष्ट्रों से लड़ते रहे हों। पोलैंड को पूरे दो सौ वर्षो की गुलामी के उपरान्त आजादी मिली। लेकिन स्वयं स्वतन्त्र होने के बाद उस राष्ट्र को यूक्रेन को गुलामी की जंजीरों मे जकड़ने में किसी प्रकार की हिचक महसूस नही हुई। कोई राष्ट्र चाहे अपनी स्वतन्त्रता के लिये भले ही लड़ रहा हो, फिर भी यदि वह संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्रेरित है तो वह भी प्रशंस-नीय नही है। राष्ट्रीयता सिद्धान्त रूप मे ही बुरी है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि परतन्त्र देशों को अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न नही करना चाहिये। परतन्त्रता कभी स्पृहणीय नही है। परन्तु उन्हें ऐसा अपने राष्ट्र की स्वार्थ-साधना के लिये नही, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से करना चाहिये। राष्ट्री-यता चाहे वह सबल राष्ट्र की हो या निर्बल की, सदा दोषपूर्ण है। दोनों इसकी आड़ में अपनी स्वार्थ-साधना की कामना करते हैं। सबल राष्ट्रों की राष्ट्रीयता दूसरे राष्ट्रों के शोषण तथा निर्बल राष्ट्रों की राष्ट्रीयता सबल राष्ट्रों द्वारा अपने

शोषण का विरोध करने में निहित होती है। यद्यपि राष्ट्रीयता की भावना के कारण शिक्षा में आने वाले दोषों की पूर्ण समाप्ति कम ही सम्भव प्रतीत होती है, तिस पर यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद को समाप्त कर लिया जाए तो यह दोष काफी हद तक कम हो जायेंगे।

चतुर्थतः, धर्मदायों (इन्डावमेंट्स) का भी शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कई देशों में वसीयतनामा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। वसीयतनामे द्वारा जब तक सार्वजनिक नियमों का उल्लघन नही होता है, उसके उपयोग मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही किया जाता है। इगलैंड में कुछ समय पूर्व तक यह स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं थी। तर्कनावाद (रेशनैलिज्म) को प्रोत्साहित करने वाले वसीयतनामे नियम-विरुद्ध करार दिए जाते थे। तर्कनावाद ईसाइयत के विरुद्ध समझा जाता था। अब इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हो चुका है। पर असलियत यह है कि भले ही प्रगतिशील उद्देश्यों के हेतु धर्मदाय नियम-विरुद्ध घोषित न किए जायें; तिस पर भी यह न भूला जाना चाहिए कि धर्मदाय सदा प्रगति के विरुद्ध रहते हैं। धर्मदाय मृत व्यक्तियों, जिनमें से कुछ सैकड़ों वर्ष पूर्व मर गए होते हैं, के दान के फलस्वरूप होते है। वे सदा उनकी इच्छाओ तथा विचारो के प्रतिपादन के लिए होते है। इनके दानी धर्नी होते हैं। इस वर्ग के लोग वैसे ही स्वभाव से प्रतिक्रियावादी होते है। फिर कोई चाहे अपने युग में कितना ही प्रगतिशील विचारों वाला क्यो न रहा हो, भविष्य मे जाकर उसके विचार पुराने पड़ जायेंगे तथा इसीलिए वे प्रतिगामी भी हो जायेंगे। आज के अधिकांश मठ प्राचीन विश्वविद्यालय तथा विद्यालय इन्हीं धर्मदायो पर आधारित है। अतः सहज कल्पना की जा सकती है कि वे कैसे विचारों का प्रचार व प्रतिपादन करते होंगे। निस्सन्देह अमरीकी समाज मे ये धर्मदाय अति प्राचीन नहीं है। परन्तु उसका यह अर्थ न समझा जाए कि यह प्रगतिशीलता के पोषक होगे। क्योंकि इन धर्मदायो के दान-दाता धनपति व उद्योगपति ही होते है और यह वर्ग बिना किसी अपवाद के सदा ही यथा-स्थिति को बनाये रखने की कामना करता है। जिस विश्वविद्यालय के प्राध्यापक तथा अध्यक्ष प्रगतिशील विचारो के हो और उनके समर्थक हों, उसके धनपतियों से दान पाने की आशा करना दुराशामात्र ही है। क्योंकि उनके विचार यथास्थिति पर कुठाराघात करते हैं।

धार्मिक संस्थाये भी धनियों से दान प्राप्त करती है। इसलिए उन संस्थाओं को अपने दानदाताओं के विचारों का पोषण करना पड़ता है। इन दानदाताओं के विचार अपने जीवनकाल में ही प्रतिगामी होते हैं। कालान्तर में ये विचार प्रतिगामी ही नहीं अपितु हास्यास्पद भी हो जाते है। उनके बावजूद उनके दान पर निर्भर धार्मिक संस्थाओं को उनके विचारों का प्रतिपादन करना पड़ता है। इस प्रकार इन धर्मदायों के फलस्वरूप धार्मिक शिक्षा प्रतिक्रियावादी हो जाती है।

यह सत्य है कि इंगलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड में आवश्यक नियम बनाकर धर्मदाय के उद्देश्य जो बदला जा सकता है। सुधार-युग (रिफार्मेशन) के समय मध्य-युग से चले आ रहे धर्मदायो को उनके उद्देश्य को बदलकर ऐंग्लीकन धर्म के प्रचार के काम में लाया गया। न्यायालय के इस फैसले के पश्चात् कि स्कॉटलैंड के फ्री चर्च की सम्पत्ति नियमानुसार बी फ्रीज की थी, कानून बनाकर धर्मान्ध प्रीडेस्टिनैरियन लोगों के धर्मदायो को ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन मे प्रयोग किया गया जो प्रीडेस्टिनैरियन मत की समाप्ति के कारण बन चुके थे। लेकिन धर्मदायो के उद्देश्य परिवर्तन के ये उदाहरण अपवादस्वरूप ही हैं। साधारणतया ऐसा नही होता। अमरीका मे धर्मदायों का उद्देश्य परिवर्तन ही विधान के द्वारा प्रतिबन्धित है। यदि कोई ऐसा धर्मदाय स्थापित किया जाए, जिसका उद्देश्य इस उक्ति का प्रतिपादन करना हो कि केन्ट्युकी के निवासी बाइबिल में उल्लिखित दस खोये कबीलों (लास्ट टेन ट्राइब्ज) में से हैं, तो ऐसे उपहासास्पद तथा अपमानजनक उद्देश्यों को भी परिवर्तित नही किया जा सकता है। इन धर्मदायों ने ऐंग्लीकन तथा रोमन कैथोलिक गिरजाओं को काफी वैभव-सम्पन्न बना लिया है। उनकी इच्छानुसार मत व्यक्त करने तथा प्रचार-कार्य करने वालों को इन धर्मदायों की सम्पत्ति उपलब्ध हो सकती है। इस प्रकार जीविकोपार्जन हेतु भी रूढिगत विचारों का व्यक्त तथा प्रचार करना लाभदायक हो जाता है। यह प्रवृत्ति बौद्धिकता का गला घोंट देती है। मौलिक विचारों को व्यक्त करने वालों को दण्डित करने के कई उपाय हैं। कालेन्सो का वेतन कम करके उनको दण्डित किया गया; केवल इसीलिए कि उन्होने उस समय की आम धारणा के विरुद्ध यह कहने की धृष्टता की कि खरगोश घास को चबाते नहीं हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्मदाय प्रगति के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। इस रूढिवादिता का परिणाम कभी यहाँ तक हो जाता है कि वस्तुएँ अपने यथार्थ रूप मे पूर्णत: बदल तो जाती है, लेकिन अपने बाह्य आकार में फिर भी चलती रहती है। फलस्वरूप धर्माचार्यो, आदि को कभी ऐसी बातों की सत्यता में भी विश्वास का दिखावा करना पड़ता है, जो पहले ही अतीत का विषय हो चुकी होती है। उन्हे वस्तुओं के बाह्य आधार मे ही विश्वास करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। ईसाइयत के सिद्धान्त पूर्ण-रूप में कभी व्यवहार में नही लाये गए है। कभी कोई सिद्धान्त कार्य में आते है तो अन्यथा अन्य सिद्धान्तों पर आचरण होता है। उदाहरणार्थ, वर्तमान काल मे ईसा मसीह के तलाक विषयक विचारों का पूर्ण पालन करना जरूरी समझा जाता है; जबकि प्रतिकार न करने, सौगन्ध न लेने तथा गरीबों को दान देने के विषय में ईसा के विचारों को केवल अलंकारिक और इस प्रकार, विपरीत अर्थों में ही लिया जाता है। किसी ईसाई को ईसाइयत के किन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करना चाहिए, इस विषय में कुछ कह सकना

कठिन है। अतः मैं इस प्रश्न को यही पर छोड़ देता हूँ।

पंचमतः, परम्पराओं का भी शिक्षा पर काफी प्रभाव पड़ता है। यहाँ पर 'परम्परा' शब्द का तात्पर्य उसके व्यापक अर्थ से नहीं है। मेरा मतलब केवल उन परम्पराओं से है, जिनका जन्म भूतकाल की किसी विशेष आर्थिक परिस्थिति के कारण हुआ हो तथा उस परिस्थिति के बदल जाने के पश्चात् भी वे यथावत रहे। यौन-विषयक आदर्श ऐसी परम्पराओं के अच्छे उदाहरण है। प्राचीनकाल में जनसंख्या की कमी तथा चिकित्सा-सुविधाओं की अनुपस्थिति के कारण शिशु-मृत्यु की अधिकता जनसंख्या की बढ़ोत्तरी आवश्यक और ईप्सित बनाए हुई थी। उस समय अधिक बच्चे पैदा करने वाले पति-पत्नी के प्रति समाज कृतज्ञता अनुभव करता था। फिर शिक्षा का प्रचलन कम होने से बालको की शिक्षा पर व्यय की कोई चिन्ता भी नहीं होती थी। इसके विपरीत बाल-श्रम के विरुद्ध कोई नियम न होने के कारण अधिक बच्चो का होना आर्थिक दृष्टिकोण से लाभकर ही होता है। अतः उस समय जन्म-निरोध तथा गर्भपात के विरुद्ध लोगों की धारणा होना सही था। लेकिन वर्तमान काल मे बच्चों की शिक्षा आवश्यक समझे जाने तथा बाल-श्रम प्रतिबन्धित हो जाने के कारण अधिक बच्चों का होना कदापि लाभकर नहीं है। इस आर्थिक परिस्थिति मे परिवर्तन के बावजूद जन्म-निरोध तथा गर्भपात के विरुद्ध परम्पराये, जो धार्मिक रूप ले चुकी है, यथावत है।

पितृसत्तात्मक परिवार की प्रथा का प्रारम्भ मनुष्य की जगली अवस्था से होता है। जंगल में विचरने वाले मनुष्य का मुख्य आहार माँस था। आसन्नावस्था तथा शिशु को दुग्धपान कराने वाली नारी इस कार्य मे आने वाली मुसीबतों का सामना नही कर सकती थी। फलतः उसे पुरुष पर आधारित रहना पड़ा। पुरुष पर नारी की यह निर्भरता अभी भी समाप्त नही हो सकी है। उसे सहारा देने के बदले पुरुष उससे पूर्ण पातिव्रत्य की आशा करता है। पातिव्रत्य के उल्लंघन का प्रायश्चित्त उसे मृत्यु-दड के रूप में करना पड़ता था। यद्यपि नारी की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता तथा आत्म-निर्भरता के साथ ही इस कानूनी सजा की भीषणता में भी कमी आ गई है; तथापि नीतिशास्त्र तथा धर्म अभी भी इस विषय में पूर्ववत अपरिवर्तित् है। यह रूढिवादी विचारधारा वर्तमान युग की लैंगिक-क्षमता के विचार से मेल नहीं खाती। जब नारी आत्म-निर्भर हो जाती है तो उसे समता का स्थान देने से इन्कार नही किया जा सकता। इसीलिए विवाहित नारियों को नौकरी मिलना कठिन बनाने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु बदलती हुई अर्थ-व्यवस्था को देखते हुए इन प्रयत्नों की सफलता सन्देहास्पद है। समय के परिवर्तन के साथ नारी रूढिवादी आचार-शास्त्र का खयाल किये बिना जीविकोपार्जन के अन्य साधन ढूँढ़ निकालेगी। उस दिन नारी को

गुलाम बनाए रखने वाली सारी नैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थायें निस्सार हो जाएँगी। आज भी पुरानी नैतिकता-नाव आर्थिक परिवर्तनों की कगारों पर टकराकर क्षत-विक्षत हो रही है। राष्ट्रों मे बढ़ते हुए सैन्यवाद के कारण राष्ट्रों को लडाई के मैदान मे लड़कर मर मिटने के योग्य लोगों की आवश्यकता बढ़ गई है। सैनिक बनने योग्य उम्र के पहले व्यक्ति की मृत्यु राष्ट्र की क्षति समझी जाती है। अत: राज्य का बालकों के लालन-पालन की ओर ध्यान देना जरूरी है। जन्मदर के घटने के कारण यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। एक ओर नारी के (अखंड पातिव्रत्य) की आवश्यकता की धारणा का अन्त हो रहा है तो दूसरी ओर राज्य बच्चों के लालन-पालन की ओर अधिक ध्यान देने लगा है। इन प्रवृत्तियो के फलस्वरूप पुरुष पिता के रूप में अपना महत्त्व खोता जा रहा है। पिता के महत्त्व के साथ-ही-साथ पितृसत्तात्मक परिवार-व्यवस्था की नींव भी हिलने लगी है। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के कारण यौन तथा परिवार-सम्बन्धी पुराने विचार निरर्थक हो गए हैं। इसके बावजूद माता-पिता तथा राज्य-बालकों को ऐसे विचारों की शिक्षा देना ही श्रेयस्कर समझते है। शिक्षा के द्वारा बालकों को एक ऐसे आचार-शास्त्र में दीक्षित करने की चेष्टा की जाती है, जो रूढिवादिता पर आधारित है तथा नए युग की नई आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है। इस प्रकार शिक्षा एक प्रतिक्रियावादी शक्ति बन जाती है। वह व्यक्ति तथा समाज को नये युग की नई मान्यताओं के अनुरूप अपने-आपको बदलने मे सहायक होने के बजाय उनको मृत भूतकाल से चिपटे रहने के लिए अनुप्रेरित करती है। प्रगति के मार्ग में वह बाधक बनती है। व्यक्ति के मन मे ऐसे विचारों के प्रति भी भय पैदा हो जाता है, जिन्हें वह अन्यथा सरल रूप से ग्रहण कर लेता। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान काल में हमारे विद्यालयो में जिस नैतिकता की शिक्षा दी जाती है, वह उन आर्थिक कारणों पर आधारित है, जो अब केवल अतीत के विषय बनकर रह गए हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति-जनित आर्थिक परिस्थितियाँ शिक्षा को रूढिवादी और प्रगति का विरोधी बना लेती हैं। लेकिन यह न समझा जाए कि व्यक्तिगत सम्पत्ति विरोधी अर्थ-व्यवस्था—साम्यवाद—के अन्तर्गत शिक्षा अपनी इस रूढिवादिता को छोड़ देगी। बेशक क्रांति की सफलता के बाद संक्रमण-काल में शिक्षा प्रगतिशील रहेगी। परन्तु साम्यवाद की पूर्ण स्थापना के साथ शिक्षा में प्रगतिशीलता नहीं रह पाएगी। शिक्षा का पूर्ण केन्द्रीकरण हो जाएगा। अधिकारियों के हाथों में उसका संचालन प्रगति का विरोधी तथा स्थायित्व की कामना करने वाला होता है। हो सकता है कि साम्यवाद की स्थापना के अनन्तर शिक्षा में भी अधिक परिवर्तन की आवश्यकता न रहे। यह भी सम्भव है कि संघर्ष तथा परिवर्तनों की दौड़ के उपरान्त कुछ समय तक रुककर साँस ले

लेना सारी मानव-जाति के लिए हितकर हो। कुछ भी हो– यह तो मान ही लिया जाना चाहिए कि साम्यवादी शिक्षा में प्रतियोगिता का स्थान सहकारिता द्वारा लिया जाना एक बहुत प्रगतिशील, महत्त्वपूर्ण तथा लाभकर कदम है। इस आधार पर इस बात की परिकल्पना की जा सकती है कि साम्यवादी शिक्षा के द्वारा वर्तमान पाश्चात्य जगत् की शिक्षा से बेहतर पुरुष और नारी का निर्माण हो सकेगा।

१५

शिक्षा और प्रचार

किन्ही दो पक्षों के बीच चल रहे विवाद के सिलसिले में यदि एक पक्ष अन्य लोगो को अपने पक्ष के न्यायसगत होने का विश्वास दिलाकर अपने पक्ष में करने की चेष्टा करे तो उसके इस प्रयास को 'प्रचार' कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रचार और उत्पीड़न मे केवल विधि-भेद है। उत्पीड़न में शक्ति का प्रयोग सम्भव है तो प्रचार में उसका कोई स्थान नहीं। प्रचार और शिक्षण में भी केवल उद्देश्य भेद है। शिक्षण द्वारा पाठक को ज्ञान प्राप्त कराया जाता है तो प्रचार का उद्देश्य-केवल व्यक्ति मे अपने अनुकूल भावना पैदा करना है। कभी-कभी प्रचार द्वारा व्यक्ति को सही बातें भी मालूम हो सकती है। इस प्रकार ऊपर से प्रचार और शिक्षण में कम अन्तर प्रतीत हो सकता है। लेकिन प्रचार द्वारा केवल वे ही बातें बतलाई जाती है, जो प्रचार करने वाले पक्ष के अनुकूल पड़ती हों। इसके अतिरिक्त अन्य बातें बतलानी तो रहा दूर उनकी जिज्ञासा तक को निरुत्साहित किया जाता है। यहाँ पर प्रचार व शिक्षण में मौलिक भेद है। प्रचार वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से भी भिन्न है। प्रशंसा और निन्दा दोनों इसके अन्तर्गत आते है। यद्यपि अधिकांश लोगों मे इतनी क्षमता होती ही है कि वे थोथी बातों को पहचान सके। तथापि प्रचारक उनकी मदद से अपने प्रचार के ध्येय को प्राप्त करने की कोशिश करता ही है। परन्तु प्रचार केवल थोथी बातों से ही प्रेरित नहीं होता। किसी भी राष्ट्र का इतिहास बिना किसी अतिरंजन व थोथेपन के पूरी तरह से सही तथ्यो के आधार पर उसके पक्ष और विपक्ष दोनों में लिखा जा सकता है। प्रचार-साहित्य का लेखक केवल अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही तथ्यो का चयन करता है और उससे मेल न खाने वाले तथ्यों को छोड़ देता है। इस प्रकार वह सही तथ्य रखने पर भी पाठक पर गलत प्रभाव डाल सकता है।

शिक्षक की भी कुछ मान्यतायें होती है। उन्ही के आधार पर वह कुछ चीजों से अनुराग करता है तो अन्य से विराग। उसके अध्यापन पर भी इन बातों का असर पड़ता ही है। वह जाने या अनजाने ही तदनुकूल तथ्यों तथा विचारो को छात्रो के सम्मुख रखता है। उसके छात्रों पर उसकी बातों का असर होता है।

अतः इस विषय में दो राय नहीं हो सकती हैं कि शिक्षा में प्रचार का भी अपना एक स्थान है। उसके बिना शिक्षा निर्जीव हो जायेगी तथा उसका जीवन से अनुबन्धन न हो सकेगा। विचारणीय विषय यह है कि शिक्षा में प्रचार को कितना स्थान दिया जाये, उसका ढंग और रूप क्या हो तथा छात्रों मे किस अवस्था मे प्रचार के प्रभाव से ऊपर होने व स्वयं अपनी निष्पक्ष राय निर्धारित करने की क्षमता लाने का प्रयास किये जाये ?

इगलैण्ड में सुधार काल के बाद प्रचार का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया है। इससे सबसे पहले लाभ उठाने वाले जेसुयेट थे। उन्होंने शिक्षा-सस्थाओं पर अपना प्रभाव बढ़ाकर प्रचार की सहायता से प्रति-सुधार (काउन्टर-रिफार्मेशन) से होने वाले लाभों को दृढतर बनाया। प्रोटेस्टेन्ट भी इस मामले में पीछे न रहे। उन्होंने इंगलैंड में स्पेन के धर्म न्यायालय (स्पेनिश इन्क्विजिशन), स्मिथफील्ड के अग्निकाण्ड और गोला-बारूद षड्यन्त्र का पूरा लाभ उठाया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पूर्व अठारहवी सदी का वातावरण सत्रहवी सदी से अधिक शान्तिमय तथा प्रचार-रहित था। अठारहवी सदी में लड़ी जाने वाली लड़ाइयाँ ऐतिहासिक महत्त्व में किसी प्रकार कम न होने पर भी अपक्षेया कम भीषण थी। जैकोबिनवाद यूरोप में कटुता की भावना लाने का कारण बना। फलतः नेपोलियन से होने वाली लम्बी लड़ाइयों के अनन्तर अग्रेजों में संकीर्णता तथा जर्मनवासियों में उग्र देशभक्ति की भावनाओं का उदय हुआ। उस समय से प्रगतिशीलता तथा प्रतिक्रियावादिता के मध्य संघर्ष विकटतर हो गया। नागरिक उग्र राष्ट्रीयता की भावनाओ से ओत-प्रोत है। राष्ट्र ही नही अपितु एक ही राष्ट्र में रहने वाले विभिन्न समूह भी अपने विश्वास, ज्ञान, आदर्श और विचारों की भिन्नता के कारण एक-दूसरे का गला घोटने पर आमादा है। यह सब प्रचार की महिमा है।

विश्व की वर्तमान फूट प्रारम्भिक अवस्था में प्रचार के फलस्वरूप तथा तदनन्तर उसके कारणस्वरूप है। सुधार-काल के पूर्व यूरोप में काफी हद तक विवादों का अभाव था। धर्म-विरुद्ध आचरण करने वालों को केवल सजा देना ही पर्याप्त समझा जाता था। वर्तमान काल की तरह प्रचार की उस समय आवश्यकता नहीं होती थी। लेकिन आज परिस्थिति बिलकुल विपरीत है। धर्म-युद्धों का निर्णय अधिकतम लोगों को अपने पक्ष का धर्म ग्रहण कराने की क्षमता के आधार पर होता था। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की सफलता का मूल जैकोबियन लोगों का प्रचण्ड प्रचार था। समाजवाद तथा साम्यवाद की स्थापना प्रचार के आधार पर ही सम्भव हो रही है। वर्तमान राष्ट्र केवल राष्ट्रीयता के प्रचार के द्वारा ही अपने नागरिकों को युद्धजनित सारी असुविधाओं को सहन करने के लिए प्रेरित कर सकते है।

सार्वजनीन शिक्षा के विचार ने प्रचार की क्षमता को और भी अधिक बढा

दिया है। शिक्षा तो अपने-आपमें प्रचार का साधन है। हाँ, साथ-ही-साथ साक्षरों के लिये समाचारपत्र भी प्रचारक का काम करने लगते हैं। उनकी संख्या में बढ़ोत्तरी प्रचार के प्रभाव को और भी बढ़ा देती है। यही कारण है कि प्रथम विश्व-युद्ध पिछले सभी युद्धों से अधिक भीषण था। पहले व्यक्ति या तो निपट निरक्षर होता था या सुशिक्षित। दोनों अवस्थाओं में वह समाचार-पत्रों के प्रचार के प्रभाव में नहीं आता था। लेकिन अब अधिकांश लोग साक्षर तो हैं; लेकिन उसके परे वे कुछ नहीं जानते। ऐसे लोग प्रचार से बहुत जल्दी प्रभावित होते हैं। उन पर प्रचार का असर भी अधिक होता है। इस परिस्थिति ने इस महायुद्ध को भीषणतम बना दिया। इस एक उदाहरण से स्पष्ट है कि आज प्रचार एक बहुत महत्त्वपूर्ण शक्ति बन गया है।

प्रचार मुख्यतया तीन विषयों - राजनीतिक दल, धर्म और राष्ट्र के लिये किया जाता है। राज्य कभी-कभी छोटे दलों के विरुद्ध प्रचार तो करता है; लेकिन सामान्यतया वह खुलेआम दलीय प्रकार में भाग नहीं लेता। अमरीका और इंगलैंड में साम्यवादी दल के खिलाफ प्रचार इसका उदाहरण है। अतः दलीय प्रचार शिक्षा पर कोई विशेष असर नहीं डालता। निस्सन्देह धनिकों के विद्यालयों का वातावरण रूढ़िवादी होता है। लेकिन धनिकों के बालकों के अपने प्रौढ जीवन में प्रतिक्रियावादी होने की अधिक सम्भावना के कारण इन विद्यालयों का एक-पक्षीय वातावरण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। शेष दो विषय—धर्म और राष्ट्र—विद्यालयों में प्रचार के अच्छे विषय समझे जाते हैं। रोमन कैथोलिक अपने बालकों को केवल रोमन कैथोलिक विद्यालयों में ही शिक्षा दिलाना चाहते है। प्रोटेस्टेन्ट उन्ही विद्यालयों को पसन्द करते हैं, जिनका वातावरण उनके बालकों में प्राटेस्टेन्ट मत के प्रति आस्था जाग्रत करने में सहायक हो। सभी उन्नत राष्ट्र अपने निवासियों को देशप्रेम की भावना से ओत-प्रोत देखना चाहते हैं। एतदर्थ राष्ट्रीयता की शिक्षा के बिना शिक्षा अपूर्ण मानी जाती है। निस्सन्देह साम्यवादी शिक्षा के अन्तर्गत राष्ट्रीयता की शिक्षा नहीं होती है। वहाँ साम्यवाद का प्रचार राष्ट्रीयता के प्रचार का स्थान लेता है। साम्यवाद की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए बालकों को यह भी बतला दिया जाता है कि रूस इस व्यवस्था का प्रणेता व अगुंवा है। अतः इस शिक्षा का असर भी पूँजीवादी राज्यों में दी जाने वाली राष्ट्रीयता की शिक्षा से कुछ भिन्न नहीं होता।

सामान्यतया शिक्षा के द्वारा किया जाने वाला प्रचार सफल रहता है। केवल किसी विशेष परिस्थिति में ही वह असफल रहता है। अधिकाश लोग प्रमुखतया विद्यालय मे दी जाने वाली धर्म व राष्ट्रीयता की शिक्षा के कारण ही इच्छित व्यवहार करते है। अमरीका में बाहर से आकर बसे हुए लोगों के बालकों का अपने पूर्वजों की जन्मभूमि के बजाय अमरीका के प्रति अनुराग रखना इसका एक

अच्छा उदाहरण है। कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रचार असफल भी रहता है। देश की किसी युद्ध में हार उनमें से एक परिस्थिति है। प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप सन् १६१७ में रूसवासियों तथा सन् १६१८ में जर्मनवासियों का देशप्रेम समाप्त-प्राय: था। केवल वार्सेलीज की सन्धि के कारण ही जर्मनवासियों की अन्तर्राष्ट्रीय भावना कुण्ठित हुई तथा राष्ट्रीय भावना का पुनर्जागरण हुआ। प्रचार की असफलता की दूसरी परिस्थिति उसके द्वारा ऐसी धारणाओं में विश्वास पैदा करने की चेष्टा है, जिनके प्रति लोगों के मन में अटूट घृणा हो। दक्षिणी आयरलैंड में ब्रिटिश राष्ट्रीयता की असफलता का मुख्य कारण वहाँ के लोगों की प्रोटेस्टेन्ट मत के प्रति घृणा थी। प्रचार जब मूल प्रवृत्तियों या भावनाओं पर आधारित रहता है तो उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है। जहाँ विद्वेष की भावना प्रस्तुत है, उसे उग्रतम रूप दिया जा सकता है; घृणा की भावना को और अधिक विकट बनाया जा सकता है, प्रस्तुत अन्ध-विश्वास और अधिक प्रभावोत्पादक हो जाते हैं; प्रस्तुत शासन-सत्ता की सुपुप्त कामना को भड़काकर और अधिक बलवती बनाया जा सकता है। इतना प्रभावशाली होने के बावजूद अभी प्रचार की शक्ति असीमित नहीं है। परन्तु जिस दिन समूह मनोविज्ञान और अधिक प्रगति कर लेगा, उसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं होगी तथा राज्य उसके बल पर अपने नागरिकों को हर कोई नाच नचा सकेंगे।

प्रचार मान्यताओं, विचारों और साधारण तथ्यों के विषय में हो सकता है। तीनों विषयों के प्रचार में परस्पर भिन्नता रहती है।

चरम मान्यताओं को तर्कना की कसौटी पर नहीं रखा जा सकता है। यदि किसी की राय में दुःख भोगना सभी के लिये अच्छा हो तथा सभी का दाँत की भीषण पीड़ा से पीड़ित होना अच्छा समझा जाये तो इसे अस्वीकार कर लेने के अलावा कुछ नहीं किया जा सकता। भले ही हम खुद उन्हीं सज्जन को दाँत की पीड़ा से छुटकारा पाने के लिये दन्त-चिकित्सक के पास दौड़ते हुए क्यों न देख लें; तिस पर भी उन पर हँसने तथा खिल्ली उड़ाने के अतिरक्त और कुछ सम्भव नहीं हो सकता। यदि कोई पैगम्बर बताये कि सुख की प्राप्ति केवल उन लोगों को ही हो सकती है, जिनके नाम 'र' से शुरू हों तो उनकी उक्ति का रमेश, रवीन्द्र, रमा प्रभृत्ति लोग पूरे उत्साह के साथ समर्थन करेंगे। लेकिन दूसरी ओर मोहन, सोहन, करीम, आदि लोगों की असंख्य सेना उन्हें परास्त कर लेगी। अपने बहुमत के बल पर वे उन्हें हरा तो देंगे; परन्तु उनकी इस विजय का कोई तार्किक आधार नहीं होगा। अस्तु, चरम मान्यताओं का मतदान व पशुबल की सहायता से भले ही कोई फैसला क्यों न कर लिया जाये; लेकिन उनपर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति के लिये उनको स्वीकार या अस्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं।

वास्तविक जीवन में व्यक्ति को प्राय: भविष्य में किये जाने वाले कार्य के विषय में चिन्तन में ही व्यस्त रहना पड़ता है। अत: उसे चरम मान्यताओं को तर्क की कसौटी पर रखने की सूझती भी नहीं है। कोई कार्य करने योग्य है या नहीं – यह दो बातों पर निर्भर करता है। प्रथमत: उस कार्य के क्या सम्भावित परिणाम हो सकते हैं ? द्वितीयत:, ये परिणाम ईप्सित है या नहीं इसी प्रश्न को दूसरे शब्दो में यों भी रखा जा सकता है कि दी हुई परिस्थिति में जितने भी अन्य कार्य संभव हो सकते हैं, उनके परिणामों से ये परिणाम श्रेष्ठ है या नहीं ? पहला प्रश्न नीति-शास्त्र से सम्बन्धित न होकर वैज्ञानिक प्रश्न है। अत: यह अन्य सभी वैज्ञानिक प्रश्नो की तरह तर्कना की कसौटी पर रखा जा सकता है। परन्तु दूसरे प्रश्न पर विचार करते समय आगे किये जाने वाले कार्य के विषय में विवाद उठ जाता है। इसका समाधान तर्कों के आधार पर करना सम्भव नहीं रहता है।

राजनीतिक विवादों मे दो प्रकार के मतभेद होते है— नाममात्र और वास्तविक। यदि व्यक्ति को पूर्णतया उसी इच्छा पर छोड़ दिया जाये तो वह अपने हित को सबसे अधिक महत्त्व देगा। उसके बाद वह अपने परिवार के हित की सोच सकता है। वह अपने राष्ट्र, दल तथा सह-धर्मियों की हित-कामना भी उसी समय करेगा जब उसे यह भली-भाँति विश्वास रहे कि ऐसा करने से उसकी स्वार्थ-हानि कदापि न होगी। यदि वह एक सर्वशक्तिमान सम्राट् हो तो वह जीवन-पर्यन्त इस धारणा को बनाये रख सकता है तथा उस पर व्यवहार कर सकता है। लेकिन हर व्यक्ति सम्राट् नही हो सकता। अत: उसको अपनी स्वार्थ-साधनाके लिये साथी बनाने पड़ते है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब वह कोई ऐसा कार्य हाथ में ले, जिस में उसका और उसके सभी साथियों का हित निहित हो। यदि वह तहेदिल से ऐसा न कर सके तो उसे ऐसा करने का दिखावा तो करना ही पड़ता है। इस दिखावे को तर्कों का जामा पहनाने की कोशिश करता है। उसकी ये दलीलें कभी उचित और थोथी हो सकती है। अपने दृष्टिकोण के थोथेपन की असलियत को प्रकट न होने देने के लिये वह भ्रमोत्पादक तर्कों का सहारा लेता है। उनके आधार पर वह लोगों के आवेगों को उत्तेजित करता है; ताकि वे सत्य से अवगत न हो सकें। ये भ्रमोत्पादक तर्क कभी बहुत प्रभावकारी होते है। उदाहरण के लिये महायुद्ध के अन्तिम काल से लेकर सन् १९३१ ई० की पतझड़ तक ब्रिटिश उद्योगों से ब्रिटिश बैंकरो ने काफी लाभ उठाया। ब्रिटिश उद्योगपतियों का बैंकरों के भ्रमोत्पादक तर्कों के झांसे में आ जाना इसका एकमात्र कारण था। कुछ ऐसी ही अवस्था राजनीतिक दलों की होती है। सत्य यह होता है कि वे एक समूह की हित-कामना करते है। लेकिन अपने तर्कों के द्वारा प्रत्येक दल सभी वर्गों की भलाई के लिये काम करने के अपने दावे को सिद्ध करने की प्रयत्न करता है। यदि तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करना सम्भव न हो तो आवेगों को उत्तेजित करने की चेष्टा

की जाती है। इस प्रकार राजनीतिक दल अपने असली मन्तव्य को गुप्त रखने का प्रयत्न करते है। कोई भी दल अपने को इस मूल उद्देश्य को प्रकट करने की हिम्मत नही करता। ऐसा करना खुद अपने पांवों पर कुल्हाड़ी मारने के तुल्य होगा। अतः चरम मान्यताओं के विषय में कभी भी विवाद नही उठता। प्रत्येक राजनीतिक दल इस बात का दावा करता है कि वह सम्पूर्ण समाज के हित के लिये कार्य करता है। वह हित यदि इस पीढ़ी को नही तो अगली पीढ़ी तो अवश्य ही प्राप्य बतलाया जाता है। इसी प्रकार की चरम नैतिक मान्यताये यद्यपि बौद्धिक रूप में कोई महत्त्व नही रखती। लेकिन उनमे साधारण जनता के आवेगो को भड़काने की बड़ी क्षमता होती है। इसीलिये राजनीतिज्ञों द्वारा उनका विशेष उपयोग किया जाता है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि राजनीतिक विवादों मे भी कई ऐसी बातें है, जिनकी तर्क-शास्त्र के आधार पर जांच की जा सकती है। यदि कोई दल 'सर्वजन हिताय' काम करने का दावा करता है तो उसके इस दावे की भी परीक्षा की जा सकती है। साम्राज्यवादी राष्ट्र दावा करते है कि उनकी गुलामी या प्रभाव मे रहने वाले राष्ट्र जितना सुखी जीवन बिताते हैं, उतना वे स्वतन्त्र होने पर कभी न बिता सकेंगे। नारी के मताधिकार तथा लैंगिक समानता प्राप्त करने से पहले पुरुष का कहना था कि नारी उसके शासन मे सब प्रकार से सुखी है तथा उससे मुक्त होने की चेष्टा करना उन सारी उपलब्ध सुख-सुविधाओं से वंचित रहना है। उद्योगपतियों के अनुसार उनके उद्योगो में श्रमिको की अवस्था काफी अच्छी है तथा सार्वजनिक उद्योगों में वे उतने अधिक सुखी न रह सकेंगे। जिस दलित वर्ग को ऐसे भ्रमपूर्ण तर्कों द्वारा समझाने की कोशिश की जाती है, उसमे से कुछ लोग इनके भुलावे में आ भी जाते है। फिर वे अपनी भूल को अपने भ्रम का ज्ञान न होने तक तर्क देकर सही सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। दूसरी ओर प्रभावकारी वर्ग के चंद लोग भी अपने वर्ग के दृष्टिकोण की असत्यता महसूस करने लगते है। यह उनके हितों के लिये सबसे अधिक घातक होता है। सन् १७८९ ई० में कई फ्रांसीसी सामन्त तथा सन् १९१७ में कई रूसी सामन्त अपने पक्ष के अनौचित्य मे सन्देह करने लगे थे। सम्भवतया इस सन्देह की अनुपस्थिति में इन राज्य-क्रांतियों की सफलता में और अधिक कठिनाई होती।

हम अभी तक मान्यताओ के बौद्धिक पहलू पर विचार करते रहे हैं। लेकिन वास्तव में नैतिकता से सम्बन्धित प्रचार तर्कों के बजाय आवेगों को उत्तेजित करने पर आधारित होता है। फिर यह देखते हुए भी कि मान्यतायें ही स्वतः अन्तिम रूप मे आवेगों पर आधारित होती हैं, यह सही भी है। अब जरा देखा जाये कि इस प्रचार में, किन आवेगो को उत्तेजित किया जाता है तथा ऐसा करने के लिये कौन से तरीके काम में लाये जाते है।

भावात्मक प्रचार प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों हो सकता है। 'अंकिल टाम्स केबिन' तथा 'ये मेराइनर्स ऑफ इंगलैंड प्रत्यक्ष प्रचार के अच्छे उदाहरण हैं। इस प्रचार में प्रचार के विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि श्रोताओं या पाठकों में प्रचारक की इच्छानुकूल आवेग पैदा हो जायें। अप्रत्यक्ष प्रचार से ऐसे आवेगों को उत्तेजित किया जाता है, जिनका अपने-आपमें तो प्रचार के विषय से कोई सम्बन्ध नही होता, पर उनको ऐसे ढंग से उत्तेजित किया जाता है कि वे प्रचार के विषय से अनुबन्धित हो जाते है। गिर्जाओं तथा सभी सामाजिक समूहों में प्रयोग किये जाने वाले संगीत का यही मन्तव्य रहता है। उच्च-वर्ग के अंग्रेजों का अपने पब्लिक स्कूलों से जो स्नेह होता है, वह एक मिश्रित भावना के प्रतिफलस्वरूप है। इस भावना की नीव उनके छात्र-जीवन-काल में ही पड़ जाती है, जो फिर जीवन-पर्यन्त बनी रहती है। इस भावना का बहुत बड़ा राजनीतिक महत्त्व है। रोमन कैथोलिक युवक अर्द्धरात्रि की प्रार्थना सभा, गुड फ्राइडे के धार्मिक उत्सव, उल्ला-समय ईस्टर तथा सुगन्ध, अन्धकार व रहस्य से पूरित गिरजे मे जिन भावनाओं से ओत-प्रोत होता है, वह अपने मठ में उनको आरोपित कर देता है। फिर उस का मठ जीवन-पर्यन्त उसके लिए उन भावनाओं का प्रतीक बन जाता है और इसलिये उसमें उसके (मठ) प्रति अनुरागमयी भावना होती है। इसी प्रकार बचपन या युवावस्था की ऐसी भावनायें जब किसी राजनीतिक समूह में आरोपित हो जाती है तो व्यक्ति में उसके प्रति एक ऐसी भावना जन्म ले लेती है जो उसके समस्त जीवन व दृष्टिकोण को ही प्रभावित कर लेती है। फिर उसके सम्मुख बौद्धिकता को घुटने टेकने पड़ते है। विगत दो हज़ार वर्षों से ऐसे प्रचार का अभ्यस्त हो जाने के कारण कैथोलिक मठ इसमें पटु हो गया है। आज के राष्ट्र-राज्य भी सैनिक-संगीत तथा सैन्य-प्रदर्शनों के द्वारा ऐसा करने की चेष्टा करते है। लेकिन वे इसमें अभी उतने अधिक सिद्धहस्त नही है। मुझे अपने बचपन के वे दिन भली-भाँति याद है, जब लाल कोट पहने अंग्रेज सिपाहियों के प्रयाण करते दलों को देखने के लिये जनता उमड़ पड़ती थी। ऐसे दृश्यों को देखने से जो आह्लाद तथा रोमाँच होता है, उसको समाप्त करने की चेष्टा न की गई तो विश्व अति शीघ्र सैन्यवाद की ओर उन्मुक्त हो जायेगा।

आवेगों के उत्तेजन पर आधरित प्रचार के कई दोष है। इस का उपयोग सफलता से भले या बुरे दोनों के लिये किया जा सकता है। इसका असर अधिकतर बुरा होता है। भद्र व्यवहार के लिए आवेगों को काबू में रखना प्रथम आवश्यकता है। परन्तु ऐसा प्रचार इसके विपरीत मूल तथा अपरिष्कृत आवेगों को भड़काने का प्रयास करता है। अतः यह सभ्य व्यवहार के मार्ग में बाधक होता है। युद्ध के प्रारम्भ होने पर व्यक्ति हर्षोन्माद प्रकट करता है—केवल इसलिये कि उसमें उसे अपने पाशविक आवेगों को पूरी छूट देने का मौका मिलता है। एक समझदार

व्यक्ति किसी से प्यार हो जाने पर जिस गुदगुदी का अनुभव करता है, कुछ ऐसी ही अनुभूति साधारण व्यक्ति को आने वाले युद्ध की कल्पना करके होती है। धर्म और राष्ट्रीयता व्यक्ति के उन्हीं पशुवत् आवेगों को उभाड़ने की चेष्टा करते है, जो सभ्यता के लिये भयावह होते हैं। ऐसे आवेग पारस्परिक द्वेष को बढ़ाते है। इस प्रकार सहयोग की भावना समाप्त हो जाती है। फलतः समाज-संगठन ही कठोर हो जाता है। यदि पाशविक आवेगों की पूरी छूट दे दी जाये तो हमारे बहुसंख्यक राज्यों का सभ्य जीवन असम्भव प्रायः हो जायेगा। इसीलिये सभ्य व सुसंस्कृत लोग कई लालचों के बावजूद अपनी मूल-प्रवृत्तियो के अन्धानुकरण से झिझकते हैं।

भावात्मक प्रचार का एक अन्य दोष यह है कि इससे व्यक्ति की तर्कना-शक्ति समाप्त हो जाती है। फिर तर्क उसको प्रभावित नही कर सकते। चेतन-मन भले ही तर्कसगत हो, लेकिन अचेतन की गहराइयों मे बाल्यावस्था से ही कुछ ऐसी धारणायें होती हैं, जिन पर तर्कों का कोई असर नही होता। इन्ही धारणाओ के प्रभाव के फलस्वरूप अपनी एकान्तावस्था में विश्व-बन्धुत्व तथा स्वतन्त्र विचारो की अनुभूति करने वाला व्यक्ति भी युद्ध या मृत्यु का भय उपस्थित हो जाने पर पक्का राष्ट्रवादी या धार्मिक हो जाता है। निस्सन्देह इन धारणाओं के पीछे प्रचार का अधिक हाथ नही होता है। ये धारणायें मुख्यतया डर की भावना के फलस्वरूप होती हैं। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रचार इस डर की भावना को भड़काकर उसको राष्ट्र या ईश्वर के प्रेम-सरीखे सम्मानित भावो का जामा अवश्य ही पहनाता है।

धर्म के सिद्धान्तों जैसे सामान्य विचारों का प्रचार आवेगों के आधार पर किया जाता है। सिद्धान्त या विचार के प्रतिपादन के पूर्व तदनुकूल आवेगों को जाग्रत किया जाता है। एक कैथोलिक का उदाहरण लिया जाए। वह समय-समय पर उन्ही आवेगो की कामना करता है या उसे उन्हीं आवेगों की उपस्थिति आह्लादकर लगती है, जो उसके धर्म से सम्बन्धित हों। इन्ही आवेगों के असर मे आकर वह अपने धर्म-विषयक ऐसी बातों पर भी विश्वास कर लेता है, जिन पर वह अन्यथा कभी भी विश्वास न करता। जहाँ तक किसी धर्म या सर्वसम्मत मत मे विश्वास करने का प्रश्न है, सिद्धान्ततः यह सम्भव है कि तर्कों के द्वारा उस विश्वास को समाप्त किया जा सके। परन्तु असलियत में यह केवल अपवादस्वरूप चन्द तर्कसगत बुद्धि वाले लोगों के साथ ही सम्भव है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि मत-परिवर्तन केवल सीमित सख्या ही में सम्भव है तथा सामान्य लोग इसके बिलकुल अयोग्य रहते हैं। कभी-कभी जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग भी मत-परिवर्तन करते हुए पाया जाता है। लेकिन इसका प्रमुख कारण अपने मत की निस्सारता का ज्ञान न होकर कोई आर्थिक कारण होता है। हो सकता है कि

यह कारण अचेतन में हो; लेकिन यह होता अवश्य है। इंगलैंड में धर्म-सुधार मुख्यतया गिर्जाओं से सम्बद्ध बहुत अधिक भूमि तथा रोमवासी पोप को दिए जाने वाले कर के कारण सफल रहा। यूरोप के अधिकतर समाजवादी ईसाइयत के विरुद्ध है। वह प्रमुखतया इसलिए कि वे समझते है कि ईसाई धर्म केवल उच्च-वर्ग की हित साधना-हेतु है। किसी धार्मिक मत का केवल तर्क-शास्त्र के आधार पर सफलतापूर्वक विरोध कर सकना केवल अपवादस्वरूप अवस्थाओं में ही सम्भव हो सकता है। अठारहवी सदी का फ्रांसीसी तर्कवाद इसका अच्छा उदाहरण है। पर यह इच्छित नहीं है। लोगों की धार्मिक धारणायें तथा विचार जहाँ तक हो सके तर्क-संगत हों। व्यक्ति की धारणाओं को केवल प्रशंसा और भर्त्सना की गेंद बना लेने वाला प्रचार व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाप्त कर लेता है। उसकी वैज्ञानिक जिज्ञासा समाप्त हो जाती है और इस प्रकार सभ्यता पर ही कुठाराघात हो जाता है।

अध्यापन का प्रचार से नितान्त मुक्त होना कम सम्भव होता है। किसी भी जागरूक अध्यापक के सामयिक विवादास्पद प्रश्नों पर अपने विचार होंगे ही तथा अपने अध्यापन मे उसका अपने मत का प्रतिपादन करना स्वाभाविक ही है। जहाँ अध्यापक से ऐसा न करने की आशा की जाए, वहाँ अध्यापक के व्यक्तित्व का हनन होता है तथा उद्बोधक व प्रेरणादायक अध्यापन भी सम्भव नही हो सकता है। यह इच्छित नही है। परन्तु साथ-ही-साथ यह भी उचित नहीं है कि छात्रों को केवल एक पक्ष का ही ज्ञान कराया जाए। मेरे मत से तो इस विडम्बना का केवल यही हल है कि छात्रों को विवादास्पद प्रश्नों के दोनों पक्षों के प्रचार का ज्ञान कराया जाए तथा उन्हे उस ज्ञान के आधार पर स्वतन्त्र मत-निर्धारण का अवसर दिया जाए। लेकिन इस सुझाव को कार्यरूप में लाने के लिए वर्तमान सरकारें शायद ही राजी हों। अच्छा होता कि हर दूसरे सोमवार को श्री विन्सटन चर्चिल तथा रूसी राजदूत रेडियो पर साम्यवाद पर बहस प्रस्तुत करते तथा सभी छात्रों को इस बहस को सुनने का अवसर दिया जाता। तीन मास तक इस क्रम के चालू रहने के पश्चात् छात्र बहस के विषय पर मतदान द्वारा निर्णय करते। इसी प्रकार मंगलवार को महात्मा गाँधी तथा वायसराय भारत पर और बुधवार को स्टालिन तथा कैन्टर-बरी के लाट पादरी ईसाइयत पर बहस करें। यह युवकों को लोकतन्त्री जीवन की तैयारी के लिए तथा किसी पक्ष के प्रचार की असलियत मालूम करने के लिए अच्छा अवसर प्रदान करेगा। प्रचार अपने-आपमें हानिकर नही है। केवल एक-पक्षीय प्रचार ही दोषपूर्ण होता है। प्रचार की असलियत को समझ सकना और उसके प्रभाव मे न आना दो बहुत अच्छे गुण है। परन्तु इन गुणों की प्राप्ति प्रचार से दूर रहने से उसी तरह असम्भव है, जिस तरह शीतलाग्रस्त क्षेत्र से दूर रहते हुए शीतला रोग-निरोध शक्ति प्राप्त करने की कल्पना। इसके लिए प्रचार का

अनुभव करना व उसकी भ्रमोत्पादकता का ज्ञान होना आवश्यक है। इस दृष्टि-कोण से छात्रों का, पीछे दिये गए सुझाव के अनुसार, विभिन्न पक्षों के प्रति-निधियों के मध्य वाद-विवाद सुनने का प्रबन्ध करना अति उत्तम होगा। आज की प्रसारण-व्यवस्था इसके लिए आदर्श अवस्था प्रस्तुत करती है।

परन्तु इसका अर्थ यह न समझा जावे कि प्रचार हर अवस्था में अनिच्छित है। इसका भी एक उज्ज्वल पहलू है। समाज-रूपी तन्त्र के सुचालन हेतु प्रचार आवश्यक है। परन्तु यह प्रचार स्वार्थ-साधना की भावना से न हो। सामाजिक कार्यों के निर्बाध रूप से चलते रहने के लिए नियम और उनका पालन आवश्यक होता है। निस्सन्देह कभी ऐसे अवसर भी आते है, जब नियम का उल्लंघन करना ही बेहतर होता है। लेकिन ऐसे अवसर यदा-कदा ही आते हैं। सामान्यतया कानून के पालन में ही व्यक्तियों और समाज का हित रहता है। इस सम्बन्ध में प्रचार सहायक सिद्ध हो सकता है। द्वितीयतः, यदि विश्व को युद्धों से छुटकारा मिल सकता है तो केवल एक ऐसी संस्था की स्थापना से जो राज्यों के मध्य समय-समय पर उठने वाले विवादों को हल कर सके। लेकिन इस संस्था की सफलता हेतु यह अत्यावश्यक है कि सभी राज्य उसके निर्णय को मान्य समझें। यदि कोई सरकार अपने स्वार्थवश उसके फैसले को न मानने के लिए प्रवृत्त हो तो उसके नागरिक इतने जागरूक रहें कि वे उसे उस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्णय को स्वी-कार करने के लिए बाध्य कर सकें। इतनी जागरूकता केवल एतदर्थ प्रचार से ही सम्भव हो सकती है। यहाँ पर शान्तिवादी कह सकते है कि प्रचार अपने-आपमें हानिकर नही है। वह हानिकर तभी होता है, जब दो विरोधी पक्ष एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार करते हैं। यदि दुनिया के सभी राज्य राष्ट्रीयता की शिक्षा देना छोड़कर केवल संयुक्त राज्य अमरीका की पूजा को प्रोत्साहित करे तो विभिन्न राष्ट्रों के मध्य युद्ध का कोई कारण न रहेगा। सारे संसार में विभिन्न अर्थ-व्यव-स्थाओं की शिक्षा के स्थान पर केवल साम्यवादी या पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की शिक्षा दी जाए तो रूस तथा पाश्चात्य देशो के मध्य चलने वाली प्रतिस्पर्द्धा स्वतः समाप्त हो जायेगी। शान्तिवादी कुछ ऐसे तर्क प्रस्तुत कर सकते है। परन्तु उनकी यह योजना कई कारणों से दोषपूर्ण है। जिस विश्व में किसी विवादास्पद विषय के केवल एक पहलू का ही प्रतिपादन किया जायेगा, वहाँ प्रगति की कल्पना भी नही की जानी चाहिये। जहाँ किसी भी विषय पर वाद-विवाद नही हो सकता, वहाँ किसी चीज की बारीकी से जांच करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। अतः प्रगति तथा किसी वस्तु के अच्छे तथा बुरे पहलुओं की जाँच की शिक्षा उपलब्ध करने की खातिर वैविध्यपूर्ण प्रचार पहली आवश्यकता है। इसी आधार पर राजनीतिक सेन्सर कभी अच्छा नही कहा जा सकता।

छात्रों में अपर्याप्त तथ्य के आधार पर भी सही निष्कर्ष पर पहुँचने की क्षमता

पैदा करना शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण ध्येय है। लेकिन यह दुर्भाग्य है कि यही ध्येय सबसे अधिक उपेक्षित है। मुझे इसका पूर्ण एहसास है कि एक तर्कशास्त्रविद् होने पर भी मुझे ऐसी असंभवप्राय: बात को संभव कहने के लिए दोष दिया जाएगा। तिस पर भी यह सत्य है कि जीवन की सफलता इस असंभव प्रतीत होने वाली बात को संभव बनाने पर ही निर्भर करती है। एक सफल सेना-नायक वही हो सकता है, जो अपनी विपक्षी सेना की गतिविधियों का सही अन्दाज लगा सके। किसी भी संगठनकर्त्ता की सफलता की कुंजी यही है कि वह क्षणिक साक्षात्कार के आधार पर ही अपने लिए योग्यतम सहायकों को छांट सके। सफल वैज्ञानिक की सफलता इसी पर निर्भर करती है कि वह उपलब्ध, परन्तु अपर्याप्त, तथ्यों के आधार पर ऐसा अनुमान कर सके जो जांच के उपरान्त सही सिद्ध हो सके। उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रस्तुत तथ्य प्राय: इतने अपर्याप्त रहते हैं कि केवल उन्हीं के आधार पर किसी भी विचारशील मनुष्य के लिए सही निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन होता है। लेकिन उन्हीं के आधार पर राजनीतिज्ञों को बड़े-बड़े निर्णय करने पड़ते हैं। निर्णयों के सही होने के लिए विचारशीलता, बुद्धिमत्ता, निष्पक्षता, कल्पनापूर्ण चिंतन-शक्ति तथा अनुमान लगा सकने की क्षमता की आवश्यकता होती है। अनुमान लगाने की शक्ति अभ्यास तथा अनुभव से विकसित हो सकती है। यदि नवयुवकों को ऐसी ओजपूर्ण तथा धाराप्रवाह वक्तृताओं को सुनने का अवसर दिया जाय, जिनके भ्रमोत्पादक होने का ज्ञान उन्हें पहले से रहे या भूत-काल की घटनाओं के विषय में तत्कालीन पक्ष द्वारा प्रस्तुत विवरण पढ़ने का मौका दिया जाए तो उनकी राजनीतिक निर्णय-शक्ति को अवश्य ही प्रोत्साहन मिलेगा। यह प्रचार न होकर, प्रचार के प्रभाव से ऊपर होने का एक तरीका है।

मुझे इस बात का ज्ञान है कि मैं परोक्ष रूप में इस विषय से सम्बन्धित विवादों में भाग लेता आया हूँ। मैंने माना है कि मत केवल उपयोगी या हानिकर ही नहीं, अपितु सत्य या असत्य भी हो सकते हैं; मतों और विशेषतया तथ्य-विषयक मतों की सत्यता आँकना उनकी उपयोगिता ज्ञात करने से अधिक सरल है और अन्ततः यह कि सही मत में विश्वास करना गलत मत में विश्वास करने से अधिक लाभ-दायक है। इन सभी धारणाओं को चुनौती दी जा सकती है और फलवादी (प्रैग्मे-टिस्ट) तथा साम्यवादी ऐसा करते भी हैं। अत: इनकी बारीकी से जांच करना ही श्रेयस्कर होगा।

कहा जाता है कि सीज़र की हत्या मार्च की ईडीज में की गई थी। यद्यपि मैंने सम्बन्धित विवरण की अच्छी तरह जाँच नहीं की है, तथापि अपनी पढ़ी हुई विश्वसनीय पुस्तकों के आधार पर मैं इस तथ्य में विश्वास करता ही हूँ। युवा-वस्था में परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए इस तथ्य में विश्वास करना लाभदायक हो सकता है; परन्तु तदनन्तर इसकी कोई उपयोगिता नहीं। अब मैं अपनी द्वितीय

मान्यता पर आऊँ—यह स्पष्ट ही है कि "सीज़र की हत्या मार्च की ईडीज में की गई" विचार की सत्यता मालूम करना उसकी उपयोगिता मालूम करने से सरल है। इसकी उपयोगिता परीक्षार्थी के अतिरिक्त अन्य लोगों के लिए सन्देहास्पद है। जब मैं ऐसा कहता हूँ तो हो सकता है कि मैं अपनी तीसरी मान्यता, कि सही बातों पर विश्वास करना गलत बातों पर विश्वास करने से अधिक फायदेमन्द है, को गलत सिद्ध करता प्रतीत होऊँ। लेकिन यह तभी सही है, जब दोनों प्रकार के तथ्यों में से कोई एक तथ्य उपयोगी हो और अधिकतर विचार ऐसे होते हैं जो न तो विश्वास करने योग्य होते है और न ही अविश्वास करने योग्य। ज़रा पहाड़ों की ही कल्पना कीजिए। पहाड़े केवल कुछ ही सख्याओं तक सीमित न रहकर, कितनी ही संख्याओं के हो सकते है। यद्यपि व्यवहार में उनमे से प्राय: प्रथम कुछ संख्याओं के पहाड़ों से ही अधिक वास्ता पड़ता है; तिस पर भी यदि कभी किसी काफी बड़ी संख्या के पहाड़े की आवश्यकता पड़ जाये तो शायद ही कोई विवेकशील व्यक्ति कहेगा कि ऐसे पहाड़े को सही जानने से गलत जानना अधिक उपयोगी होगा। एक बार गलती कर लेने के बाद फिर से गलती कर लेना असम्भव नही है। पर राजनीतिज्ञ इस सम्भावना के विचार से अपना सिर-दर्द नही करना चाहता। वह तो केवल इतना ही चाहता है कि बालक सवाल सही लगाये।

जहाँ तक अंकगणित-सरीखे विवादहीन विषयों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में साम्यवादी के विचार भी अन्य लोगों के विचारो के समान ही होंगे। लेकिन उसके अनुसार सभी विवादास्पद प्रश्नों के पूँजीपति-वर्गीय तथा मजदूर-वर्गीय दो दृष्टिकोण होते हैं। ज़रा अमरत्व के प्रश्न को ही ले ले। साम्यवादी इस विषय मे न तो आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की जाँच करने के लिए चिन्तित होगा और न ही मानसिक अनुसंधान द्वारा संग्रहीत तथ्यों की ओर ध्यान देने का कष्ट करेगा। वह उपलब्ध तथ्यों के अपर्याप्त होने के आधार पर अपना निर्णय देना स्थगित भी नहीं करेगा। उसके अनुसार पूँजीपतियों द्वारा अमरत्व के विचार का प्रतिपादन मजदूरों को झाँसा देने का एक हथकण्डा-मात्र है। इस जीवन के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति का सपना दिखाना केवल मजदूरों को अपनी गिरी हुई अवस्था व अल्प-वेतन से सन्तुष्ट रखने तथा आन्दोलन करने के लिए प्रेरित न होने देने का बहाना है। इस प्रकार अमरत्व का सिद्धान्त पूँजीपतियों तथा उसका विरोध साम्यवादियों के हाथों के हथकण्डे है। अत: दलीय प्रचार किसी विचार की सत्यता या असत्यता को नहीं देखता। यदि गोली की सत्यता या असत्यता को मालूम करना हो तो कोई मत व्यक्त करने के पूर्व राजनीतिज्ञ यही देखने की चेष्टा करेगा, कि गोली किस पक्ष की सेना के काम आ रही है। मताभिव्यक्ति प्राय: इसी भावना से अनुप्रेरित रहती है।

यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक अभिरुचि को निरुत्साहित करता है वैज्ञानिक के

मतानुसार पूर्ण सत्य की ढूंढ़ कम सम्भव होते हुए भी, उसके समीप तो पहुँचा ही जा सकता है। यदि इसके लिये तथ्य पर्याप्त न हों तो वह कुछ निर्णय न करना ही उचित समझता है। साम्यवादी अपने शकासंकुल दृष्टिकोण से प्रभावित होकर इन आधारभूत बातों की उपेक्षा कर देते हैं। वे अपने सन्देहास्पद दृष्टिकोण को भी सिद्धान्त-रूप में नही ले सकते। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डायलेक्टिकल मेटीरियलिज्म) मजदूर के हित मे होने के कारण उसे उसमें विश्वास करना तो आवश्यकीय है ही; साथ-ही-साथ साम्यवादी के लिये वह पूर्ण सत्य भी है। श्रमिक वर्ग के हित में जो कोई भी विचार हो, उसी को सही सत्य करार दिया जाता है। इस कसौटी पर खरा न उतरने वाला कोई भी विचार प्रचार के योग्य तो रहा दूर, ध्यान देने के काबिल भी नहीं होता है। इस प्रकार साम्यवादियों का फलवाद दृढ न होकर उनके असन्तोष की अभिव्यक्ति-मात्र है।

अन्ततः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि कुछ ऐसे सत्य हैं, जिनके समीप पहुँचना सम्भव हो सकता है। यह भाभदायक भी है। असत्य मे विश्वास अपवाद-स्वरूप अवस्थाओं में ही उपयोगी हो सकता है। छात्रो में सही निष्कर्ष पर पहुँच सकने की क्षमता लाना शिक्षा के कार्यों में से एक कार्य होना चाहिये। ऐसा न कर सकना दलगत कटुता, विनाशात्मक कलह तथा बौद्धिक स्तर पर वैज्ञानिक अभिरुचि की समाप्ति को न्यौता देना होगा। शिक्षा को राजनीतिक प्रचार का एक साधन समझने वाले यदि प्रशासक इन बातों को हृदयंगम कर लें तो अच्छा ही होगा।

१६

व्यक्तित्व व नागरिकता का समाधान

पहले अध्याय में हमने एक प्रश्न रखा था : क्या व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के साथ-ही-साथ न्यूनतम आवश्यक सामाजिक एकता की प्राप्ति सम्भव हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर की ढूँढ में हमने शिक्षा पर राजनीति, अर्थशास्त्र, आदि के असर पर विचार किया। हमने पाया कि यह प्रभाव प्रायः बुरा ही रहता है। फिर प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रभाव का बुरा होना आवश्यकीय है ? या, यह केवल हमारे युग का ही दुर्भाग्य है ? यदि यह प्रभाव क्षणिक तथा केवल इस युग की ही विशेषता है तो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के साथ-ही-साथ सामाजिक एकता को बनाये रखने के लिये क्या उपाय किये जा सकते हैं ?

राजनीति से शिक्षा को दो प्रकार हानि पहुँचती है। प्रथमतः, राजनीतिक प्रभावों के कारण एक छोटे वर्ग के स्वार्थ बहुधा जनसाधारण के स्वार्थों पर हावी हो जाते है। द्वितीयतः, समूह तथा अधिकारी बालको के व्यक्तित्व की विविधता के स्थान पर एकरूपता की कामना करते है। वर्तमान काल में प्रथम स्रोत से शिक्षा को अधिक क्षति पहुँच रही है। लेकिन यदि इस कठिनाई को दूर कर भी लिया जाये तो दूसरे स्रोत से और अधिक हानि पहुँचेगी।

अभी तक शिक्षा प्रायः अपने राज्य, धर्म, पुरुषों और धनवानों की स्वार्थ-साधना का साधन रही है। जिस राज्य में नागरिक एक से अधिक धर्मो के अनुयायी होते है, वहाँ राज्य द्वारा विद्यालयों में किसी धर्म को प्रोत्साहन देना समव नहीं रहता है। ऐसी अवस्था में विभिन्न धर्मो के अनुयायी अपने अलग विद्यालयों की स्थापना करते हैं, जहाँ उनके धर्म की शिक्षा को हर सम्भव तरीके से प्रोत्साहन दिया जाता है। न्यूयार्क तथा बोस्टन के कैथोलिक विद्यालय इसके अच्छे उदाहरण है। वहाँ पर कैथोलिकवाद को प्रोत्साहन देने की खातिर ऐतिहासिक तथ्यो को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है।[1] शिक्षा में अब पुरुषो के प्रति पक्षपात

---

१. न्यूयार्क नगर में कैथोलिक विद्यालयों के अध्यापकों को धर्म-सुधार का उल्लेख "प्रोटेस्टैंट विद्रोह" के रूप में करना पड़ता है।

समाप्तप्राय: हो चुका है। रूस के अपवाद को छोड़कर सभी देशों में शिक्षा अभी तक धनी-वर्ग के हितों की रक्षा का साधन बनी है। सभी राज्य अभी शिक्षा के द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा की चेष्टा करते ही हैं।

इस स्थिति के फलस्वरूप शिक्षा विभिन्न धर्मों, वर्गों तथा राष्ट्रों के मध्य चलने वाले सत्ता-संघर्ष का एक अंगमात्र बनकर रह गई है। छात्र को एक बालक के रूप में नहीं, अपितु उस संघर्ष के एक रंगरूट के रूप में देखा जाता है। शिक्षा-तंत्र छात्र के हितार्थ न होकर केवल राजनीतिक दलों की स्वार्थ-साधना का एक हेतु बनकर रह जाता है। इस बात की कामना करना कि राज्य कभी बालक के हितों को अपने हितों से ऊपर रखेगा, एक दुराशा-मात्र है। अस्तु, हमारे लिये केवल यही मालूम करना रह जाता है कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में राज्य तथा बालक के हितों के समान होने की सम्भावना हो सकती है? जिस राज्य में यह सम्भव हो सकेगा, वहीं अच्छी शिक्षा की आशा की जा सकती है।

शिक्षा में निहित इन दोषों को दूर करने के लिये सर्वप्रथम महायुद्धों की समाप्ति आवश्यक है। इस हेतु यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत की स्थापना कर ली जाये तो युद्ध का भय काफी सीमा तक कम हो जायेगा। अत: राज्यों को उग्र राष्ट्रवाद की शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसके उपरान्त भी राष्ट्रीयता की जो थोड़ी-बहुत शिक्षा दी जायेगी, वह हानिकर नहीं रहेगी। फिर आफीसर्स ट्रेनिंग कोर, अनिवार्य सैनिक सेवा, इतिहास के विकृत अध्यापन, आदि का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। नैतिकता की शिक्षा के अन्तर्गत नर-संहार करने की सबसे अधिक क्षमता को सबसे अच्छे गुणों में नहीं गिना जायेगा। मेरे मतानुसार ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना, जो अपने निर्णयों को हठी तथा शक्तिशाली राज्यों पर भी लागू करने में सक्षम हो, शिक्षा तथा अन्य सभी दृष्टि-कोणों से सबसे अधिक आवश्यक व महत्त्वपूर्ण कदम है।

परन्तु ऐसी सत्ता की स्थापना सरल नहीं है। यह कार्य इतना कठिन है कि उसकी कठिनाइयों का सही अनुमान शान्तिवादी भी नहीं लगा सकते हैं। ज़रा साम्यवाद तथा पूंजीवाद के विवाद को ही ले लें। दोनों व्यवस्थाओं का सह-अस्तित्व कम सम्भव है। एक की स्थापना व सुरक्षा के लिये दूसरे को समाप्त करना आवश्यक है। फिर इनके अनुयायी इतने उग्रवादी है कि वे इस विकल्प की कल्पना भी नहीं कर सकते। अपनी अर्थ-व्यवस्था के प्रसार तथा सुरक्षा की खातिर वे कोई भी कुर्बानी कर सकते हैं। अत: उनके अनुयायियों के मध्य युद्ध को बचाने तथा विवाद का शान्तिपूर्ण हल निकालने के लिये जैसी शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की आवश्यकता है, उसकी फिलहाल आशा करना केवल दुराशा को न्योता देना है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि जर्मनी में साम्यवादियों व राष्ट्रवादियों में गृहयुद्ध छिड़ जाता है। ऐसी दशा में क्या रूस और फ्रांस

हाथ-पर-हाथ दिये बैठे रह सकते है ? क्या इंगलैंड तटस्थ बना रह सकता है ? क्या अमरीका समस्त यूरोप के साम्यवाद के अन्तर्गत आने की सम्भावना की अवस्था में भी चुप बैठा रह सकेगा ? क्या चीन और भारत ऐसे सुनहरे अवसर को हाथ से जाने देंगे ? उत्तर सुस्पष्ट है। अतः जब तक पूँजीवाद तथा साम्यवाद के मध्य विवाद पूर्णतया एक या दूसरे के पक्ष में हल नही हो जाता है, किसी भी सत्ता की स्थापना से विश्व-शान्ति की स्थापना सम्भव प्रतीत नहीं होती है। वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुए तो यही लगता है कि इस संघर्ष में साम्यवाद अव्वल तो सारे संसार में नही तो कम-से-कम समस्त यूरोप मे फैलकर अवश्य ही विजयी होगा। पूँजीवाद द्वारा अब मनुष्य को सुख-प्राप्ति की कोई आशा नही रह गई है। जब कि दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जनता के रहन-सहन के स्तर मे बड़ी शीघ्रता से सुधार होगा। ये परिस्थितियाँ साम्यवादी प्रचार को काफी आकर्षक बनायेंगी। इस प्रकार केवल रूस के साम्यवादी प्रचार के द्वारा ही विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त होता प्रतीत होता है। अतः रूस द्वारा अपने बालक-बालिकाओं को साम्यवादी सिद्धान्तो मे दीक्षित करने के लिये अपनाये जाने वाले तरीकों की आलोचना करना दूरदर्शिता नहीं होगी। लेकिन यह न समझा जाये कि मेरा इसमें दृढ विश्वास है। यह तो एक कल्पनामात्र है, जो वर्तमान दशा में असम्भव प्रतीत नही होती है।

जर्मनी को आज सजा दी जा रही है केवल इसलिये कि वह युद्ध मे पराजित रहा है। जब तक इस अनाचार का निराकरण नही हो जाता, शान्ति की सुरक्षा सम्भव प्रतीत नही होती। यह तब तक असम्भव है, जब तक फ्रास यूरोप मे प्रभावशाली बना है और उसके प्रभाव की समाप्ति केवल युद्ध से ही हो सकती है।

आज भारत इंगलैण्ड की दासता की बेड़ियों से जकड़ा है तथा चीन जापान के अत्याचारपूर्ण आक्रमणों से संतप्त है। इस स्थिति की समाप्ति भी एक महा-युद्ध के बिना नहीं हो सकती है।

जब तक इन समस्याओं का हल नहीं हो जाता है, किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना के द्वारा विश्व-शान्ति की सुरक्षा सम्भव नहीं है। यह आने वाले बीस वर्षों के अन्दर साम्यवाद की विजय के द्वारा हो सकता है। लेकिन मैं इतना अधिक आशावादी नही हूँ कि इन समस्याओं का हल इतने थोडे समय में निकल सकेगा।

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के आदर्श तथा नागरिकता के आदर्श के मध्य सामंजस्य लाने के लिये दूसरी प्रमुख आवश्यकता अन्ध-विश्वासों को समाप्त कर देने की है। मैं केवल रूढि या आवेगों पर आधारित विश्वास को अन्ध-विश्वास मानता हूँ। जब इन विश्वासो के आधार पर समाज का कोई वर्ग लाभान्वित होता रहता है तो वह स्वभावतया इन विश्वासों को बनाये रखने की चेष्टा करता

है। एतदर्थ शिक्षा के द्वारा पूर्वजों के विचारों को एक ऐसी पावनता तथा महत्ता का जामा पहना दिया जाता है, जो तर्कों की हवा भर से नापाक तथा महत्वहीन होते माने जाते है। अस्तु, उनमें आस्था रखने तथा आंख मूंद कर उन पर विश्वास करने के अतिरिक्त कोई चारा नही है। यह भावना व्यक्ति को विचार-शीलता के बजाय आवेगों से अधिक प्रेरित करती है। शासन-सत्ता प्राप्त वर्ग अपने शासितो में इसी दृष्टिकोण को देखना पसन्द करता है; क्योंकि इस प्रकार वे अपने ऊपर होने वाले अन्याय तथा अत्याचारो को महसूस नहीं कर सकते हैं तथा अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहते हैं। इस प्रकार अन्याय अन्ध-विश्वासों पर आधारित रहते है। अतः सरकार शिक्षा द्वारा नागरिको मे विवेकशीलता को केवल उसी समाज मे प्रोत्साहन देगी, जिसकी राजनीतिक तथा आर्थिक संस्थायें न्यायपूर्ण हो।

परन्तु इसका यह अर्थ न समझा जाये कि जहाँ कही एक लम्बे संघर्ष के द्वारा न्यायपूर्ण अर्थ-व्यवस्था की स्थापना होती है, वहाँ निश्चय ही मिथ्या विश्वासो की समाप्ति हो जायेगी। युद्ध स्वतः मिथ्या विश्वासों के प्रेरक हैं। युद्ध-काल में जनता में कई अन्ध-विश्वासों का प्रचार किया जाता है तथा ऐसे बौद्धिक अनुशासन की स्थापना की चेष्टा की जाती है कि व्यक्ति अपने पक्ष के न्यायानुकूल होने तथा युद्ध की उपयोगिता में सन्देह भी न कर सकें। साम्यवादी रूस इसका अच्छा उदाहरण है। वहाँ साम्यवाद के सिद्धान्त, विचार-प्रवर्त्तन, इतिहास, आदि में एक ऐसी पवित्रता आरोपित हो चुकी है कि जिनके प्रति अपने मन में सन्देह की भावना लाना भी एक जघन्य पाप से किसी प्रकार कम नहीं समझा जाता है। यदि साम्यवाद पूरी एक सदी के संघर्ष के पश्चात् समस्त विश्व को अपने अनुकूल बना सकेगा तो तब तक साम्यवाद-विषयक कई पौराणिक कथाओं का जन्म हो चुका होगा तथा साम्यवाद भी धर्म-सुलभ अपरिवर्तनशीलता को ग्रहण कर लेगा। तब किसी का भी मार्क्स व लेनिन को विश्व के महानतम व्यक्ति न कहने का दुस्साहस करना भारी यातनाओं को न्योता देना होगा। यह हो सकता है, यद्यपि इसकी सम्भावना कम है कि तब साम्यवादी दल को वही स्थान प्राप्त हो जायेगा जो अन्ध-युग (डार्क-एजेज) में गिर्जा को प्राप्त था। हो सकता है कि साम्यवाद की विजय के लिये लड़े जाने वाले इस युद्ध में सभी उद्योग-केन्द्र वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान रखने वाले ही समाप्त हो जायें। तदनन्तर यदि धर्म-ग्रन्थों मे इस बात का उल्लेख मिले कि लेनिन 'विद्युतीकरण' को विश्व की असुविधाओं से छुटकारा दिलाने का एक साधन समझते थे, तो लोग इस शब्द का अर्थ न समझने के कारण अचरज में पड़ जायेंगे। वे इसका तात्पर्य मार्क्स से एक रहस्यमय संबंध-स्थापन लगा सकते है। इस विवरण से स्पष्ट है कि न्यायानुकूल अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के बावजूद यह आवश्यकीय नही है कि अन्ध-विश्वासों की समाप्ति हो

हो जाये। पर इस अनिश्चितता का मूल कारण उस अर्थतन्त्र की स्थापना हेतु लड़ा जाने वाला भयावह संग्राम ही होगा। युद्धमें विजयी होने की लालसा अन्ध-विश्वासों की जड़ है। यदि सोवियत रूस को साम्यवाद की स्थापना हेतु भयावह लड़ाइयाँ न लड़नी पड़ीं तो आशा की जा सकती है कि उसके उद्देश्य विश्व मे साम्यवाद का प्रसार— की प्राप्ति के साथ-ही-साथ अन्ध-विश्वासों का अन्त भी हो जायेगा। अन्ततः यह भी हो सकता है कि एक बार साम्यवाद की स्थापना के पश्चात् कोई भी अन्य राज्य-व्यवस्था व्यावहारिक न रह जायेगी और इस अवस्था में फिर साम्यवाद में विश्वास रखना भी अनावश्यक हो जायेगा।

अधिकारी तथा बालक एकरूपता के प्रेमी होते है। यह प्रेम व्यक्तित्व और नागरिकता के आदर्शों में तादात्म्य-स्थापन में दूसरी बड़ी बाधा है। दस से पन्द्रह वर्ष की वय के बालकों में यह कामना उग्रतम होती है। मैं अपने किसी भी साथी में कोई विशेषता फूटी आंखो से भी सहन नही कर सकते है। इस प्रवृत्ति की हानियों पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। यदि अधिकारी-वर्ग इसे अनिच्छित समझें तो वे बुद्धिमान बालकों के लिए अलग विद्यालय, आदि अवस्थाओ द्वारा इस बुराई को दूर कर सकते हैं। साधारणतया सभी बालक अपने साथियों की प्रखरता तथा विशेषताओ के प्रति असहिष्णु होते है। विशेषतया मन्दबुद्धि बालक तो अपने ऐसे साथियों को उनकी विशेषताओं के लिए दण्ड देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। अधिकारी भी, जो अपवादस्वरूप अवस्थाओं में ही स्वयं कुशाग्र-बुद्धि होते हैं, बहुधा मौन रहकर ऐसी यातनाओं को प्रोत्साहित करते हैं। यदि यही अवस्था चालू रही तो परिणाम एक ऐसे समाज के रूप में होगा, जिसमें सभी महत्त्व के पदों पर ऐसे लोग पदासीन होंगे, जिनकी विशेषता केवल साधारण बुद्धि जनता को प्रसन्न बनाए रखना होगी। ऐसे समाज मे भ्रष्टाचारी राजनीतिज्ञ, अज्ञानी अध्यापक, अपराधियो को पकड़ न सकने वाली पुलिस और निर्दोष लोगो को सजा देने वाले न्यायपतियों की भरमार रहेगी। ऐसे समाज को चाहे धन-धान्य सम्पन्न भूमि हो क्यो न प्राप्त हो, उसे अन्ततः महत्त्वपूर्ण पदों पर योग्य व्यक्तियों को न रखने के कारण दैन्य व दुःख ही मिलेगे। वह समाज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कितनी ही दुहाई क्यो न दे तथा उसके सम्मान में कितने ही स्तूपों व स्मारको का निर्माण क्यों न कर ले, असलियत में एक आतंक और अत्याचारपूर्ण समाज ही रहता है। ऐसे समाज मे वही व्यक्ति सबसे अधिक पीड़ित रहते है, जिनकी बुद्धि के सदुपयोग तथा विचारो के अनुसार कार्य उसको प्रगत्योन्मुख बनाता। इन सब बुराइयो की जड़ प्रथमतः विद्यालय में और फिर समाज में समूह का अनावश्यक और अत्यधिक दबाव है। दुःख तो यह है कि शिक्षा-अधिकारी इस प्रवृत्ति से अवगत होते हुए भी इसकी उपेक्षा कर लेते है। असल में वे इसे अनिच्छित नही समझते। इतना ही कभी वे इसका स्वागत भी करते है; क्योंकि इस प्रकार उनके

छात्रों में व्यवहार की एकरूपता, जिसे वे चाहते हैं, आ जाती है। अतः उन कारणों तथा उनके निराकरण के उपायों को मालूम करना बहुत जरूरी है, जिनसे अध्यापक तथा शिक्षा-अधिकारी ऐसी गलती करने के लिए अनुप्रेरित होते हैं।

अध्यापक साधारणतया दो प्रकार के होते है। पहली किस्म में वे अध्यापक आते है, जिनका किसी विषय के प्रति अनुराग होता है। वे उस विषय के अध्यापन मे रुचि लेते हैं और अपने छात्रों में भी उस विषय के प्रति अनुराग पैदा करना चाहते हैं। दूसरी किस्म उन अध्यापकों की है जो अध्यापन के स्थान पर शासन करने के अधिक शौकीन होते है। शासन करने की क्षमता न होने पर भी वे सरल किन्तु अनिश्चित तरीकों से वरिष्ठता प्राप्त करना चाहते है; ताकि उन्हें शासन करने का अलभ्य अवसर प्राप्त हो सके। कुछ शिक्षा-प्रणालियां पहली किस्म के अध्यापकों को पसन्द करती हैं तो अन्य दूसरी किस्म के। दक्षता की उपासक वर्तमान शिक्षा दूसरी कोटि के अध्यापकों को चाहती है। शासन-प्रिय अध्यापकों की उपयोगिता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है। मुझे टैक्सास की एक ऐसी अध्यापिका से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला है, जिन्हें अपने विद्यालय में रिवाल्वर के साथ जाना पड़ता था। शरारती छात्रों के साथ अध्यापन-कार्य करने के लिए कभी आत्म-रक्षा के लिए ऐसे साधनों का उपयोग भी आवश्यक हो जाता है। लेकिन इस प्रकार अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर कक्षा में जाने से बेहतर तो यह होता कि शरारती छात्रो के नायकों को उस विद्यालय से हटाकर दूसरे विद्यालय मे भेज दिया जाता। फिर उनके अनुयायी नायक की अनुपस्थिति में शैतानी न कर सकते तथा सरलतापूर्वक अनुशासित रहते। केवल सुदूर देहातों या कम घनी आबादी वाले स्थानो मे ही इस विधि से काम नही लिया जा सकता है। शेष सभी स्थानों में इसे कार्यरूप में लाया जा सकता है। अपने विषय का ज्ञान, उसके प्रति रुचि, अपने छात्रों से प्रेम तथा उनमें अध्ययन के प्रति उत्साह पैदा करने की इच्छा रखने वाला अध्यापक अपने छात्रों को ज्ञान अर्जित करने तथा सदाचारी बनने मे जितनी सहायता दे सकता है; उतनी केवल अनुशासन, व्यवस्थता और दक्षता का अनुरागी, लेकिन विषय के ज्ञान तथा छात्रों के प्रति प्रेम से रहित, अध्यापक कहाँ? यह आज की शिक्षा का दुर्भाग्य है कि हमारे विद्यालय आकार में इतने बड़े हो गए है कि उनमे काफी प्रशासकीय कार्य आवश्यक हो जाता है। इस कार्य को अध्यापन मे रुचि न रखने वाले कम योग्य अध्यापक ही अधिक करते है। विद्यालयों के इस भारी-भरकम आकार तथा प्रशासकीय प्रवृत्ति के कारण उच्चाधिकारी भी असली अध्यापन-कार्य के बजाय ऐसे कामों को ही देखते हैं। फल यह होता है कि गलत लोग लाभान्वित हो जाते है। फिर शिक्षा-अधिकारियों मे यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा भी घर किए है कि प्रशासन-कार्य अध्यापन-कार्य से कठिन होता है। फलतः विद्यालयों में प्रशासन करने वालों को अध्यापन करने वालों से अधिक वेतन दिया

जाता है। इन गलत बातों के प्रोत्साहन, कम उपयोगी कार्य करने वालों के पुरस्कृत होने और अच्छे अध्यापकों की उपेक्षा का शिक्षा पर बहुत बुरा असर पड़ा है। फलतः अध्यापक भी अध्यापन की ओर इतना ध्यान नहीं देते हैं, जितना अनुशासन, व्यवस्था तथा बाहरी दिखावे की ओर। इसके लिए वे अपने बालकों में एकरूपता को प्रोत्साहित करते है। इसके विपरीत अच्छा अध्यापक सदा अपने छात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं को प्रोत्साहित करता है। वह बालकों के पूर्णतम सम्भव विकास के द्वारा उनकी योग्यता और क्षमता को बढ़ाना चाहता है। इसमें यदि उसके छात्र कुछ अटपटा व्यवहार भी करते है तो वह उसे भी निरुत्साहित नहीं करता है। अस्तु, एकरूपता के खतरे का सामना करने के लिए इस कोटि के अध्यापकों को प्रशासन-प्रिय अध्यापकों के ऊपर अवश्य तरजीह दी जानी चाहिए।

संगठनों के आकार में बढाव के साथ-ही-साथ एक और समस्या भी पैदा हो जाती है, जिस पर यहाँ पर विचार जरूरी है। ऐसे संगठनों के लिए प्रशासकीय योग्यता के लोग अत्यावश्यक हो जाते है। वे अपने संगठन से सम्बन्धित ज्ञान भले ही न रखे, तिस पर भी अपनी इस योग्यता के कारण ही वे उस संगठन में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय पदों पर आसीन हो जाते है। सभी प्रकार के संगठनों के शासन के लिए एक ही प्रकार की योग्यता आवश्यक हो जाती है। लकाशायर के वस्त्र-व्यापार का दक्षतापूर्ण संचालन करने वाला प्रशासक लन्दन की हवाई सुरक्षा, मध्य एशिया में अन्वेषण, ब्रिटिश कोलम्बिया से इंगलैण्ड को इमारती लकड़ी भेजने, प्रभृति कार्यों की व्यवस्था समान दक्षता व सुगमता से कर लेगा। इन कार्यों को करने के लिए उसे वस्त्रोत्पादन, हवाई युद्ध, तुर्किस्तान के दबे नगरों और जंगलात व जहाज संचालन, आदि में से किसी प्रकार का ज्ञान अत्यावश्यक नही है। यह उसके अधीनस्थ सहायकों के लिए आवश्यक होगा। उसके लिए केवल सामान्य बातों के ज्ञान, सूझ और व्यवस्था करने की योग्यता ही आवश्यक होती है। इस प्रकार किसी संगठन की सत्ता का उपभोग वे ही लोग करते है, जो उसकी बारीकियों और कार्यों से नितान्त अनभिज्ञ होते है। यद्यपि इससे बचा नही जा सकता है, तथापि इसकी भी बुराइयाँ हैं ही। शिक्षा में भी इससे कई दोष आ जाते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में अधिकारी वर्गीकरण और आँकड़ों को जन्म देता है। उसका जिस विषय से प्रयोजन होता है, उसको देखते हुए वह अपने कार्य में दक्षता लाने तथा शीघ्रता करने के लिए बालकों को वर्गीकृत करना तथा तत्सम्बन्धी आँकड़ों को हर समय सुलभ बनाए रखना जरूरी समझता है। निस्सन्देह कुछ मामलों में यह श्रेणी-विभाजन सन्तोषप्रद व आवश्यक दोनों होता है। सब्जी बेचने वाला अपनी दुकान पर मटर, सेम, पालक, बन्दगोभी आदि को अलग-अलग व्यवस्थित रूप में रखता है। ग्राहकों की भारी भीड़ के समय उसे

स्वय से यह पूछने के लिए नही रुकना पड़ता है कि "यह सब्जी मटर है या सेम" परन्तु बालकों पर यह बात लागू नहीं हो सकती। कोई बालक अल्प-बुद्धि है या नही —इसके विषय में यदि सही रूप से देखा जाए तो निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता है। लेकिन अधिकारी इस असम्भावना की ओर नही देखता। उसे तो एक निश्चित उत्तर चाहिए, जिसके आधार पर वह बालक को मन्दबुद्धि वालकों के विशेष विद्यालय में रखने के विषय में निर्णय ले सके। अपनी इसी कामना के कारण वह किसी ऐसे साधन की इच्छा करता है, जिससे उसको बालको को वर्गीकरण में सहायता मिल सके। इसी कारण वह बुद्धि-परीक्षाओं को पसन्द करता है। वह इस बात को महसूस नहीं करता है कि मनुष्य ऐसा जीता-जागता विषय है, जिसे वर्गों के आधार पर बाँटना सम्भव नही है। केवल बालकों के साथ रहकर कार्य करने वाला तथा उनमें स्नेह रखने वाला व्यक्ति ही उनको व्यक्ति के रूप में देख सकता है। वह उनके विषय में ऐसी बातें जानता है, जिन्हे वर्गीकृत कर सकना तो रहा दूर, शब्द-रूप भी नहीं दिया जा सकता है। ऐसा व्यक्ति ही बालक की विशेषताओं को पसन्द और प्रोत्साहित करता है। लेकिन बालकों को केवल रिपोर्टों के द्वारा देखने वाला व्यक्ति यह सब पसन्द नही करता है। वह सभी बालकों में एकरूपता देखना पसन्द करता है। इससे उसका काम काफी सरल हो जाता है। उम्र, लिंग, राष्ट्रीयता व धर्म के आधार पर वर्गीकरण तक को वह विवश होकर ही स्वीकार करता है। बुद्धि-परीक्षाओं के आधार पर वर्गीकरण भी केवल चन्द प्रगतिशील अधिकारी ही पसन्द करते है। लेकिन वे भी ठोस वर्गीकरण पसन्द करते है। एक ही वर्ग के बालकों में भी काफी विषमतायें हो सकती हैं इसे वे स्वीकार नही करते। यह एक खतरा है। शिक्षा-अधिकारियों को इस एकरूपता की कामना पर यदि कोई रोक न लगाई गई तो इसके परिणाम बहुत भयावह हो सकते है। इस खतरे का शीघ्र सामना किया जाना बहुत आवश्यक है।

यह एक प्रशासकीय समस्या है, जिसका हल भी प्रशासन के स्तर पर ही होना चाहिए। विकेन्द्रीकरण के द्वारा इस समस्या को हल किया जा सकता है। यदि विश्व-राज्य की स्थापना हो सकी तो निस्सन्देह उसकी सरकार समस्त विश्व की शिक्षा का निरीक्षण तथा नियन्त्रण करेगी। लेकिन यह नियन्त्रण केवल प्रादेशिक व स्थानीय राष्ट्रीयता तथा विश्व-राज्य विरोधी सिद्धान्तों के शिक्षण न होने देने तक ही सीमित रहेगा। अन्य बातो में स्थानीय संस्थाओं को शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण स्वतंन्त्रता रहेगी। यदि वह विश्व-सरकार वैज्ञानिक जिज्ञासा और अभिरुचि से ओत-प्रोत होगी तो वह नई शिक्षा-प्रणालियो मे प्रयोगों को प्रोत्साहित करेगी। वर्तमान शिक्षा-अधिकारी इस भावना से अनुप्रेरित नही हैं। अतः वे बहुधा प्रयोगों को निरुत्साहित ही करते है। लेकिन वैज्ञानिक अभिरुचि

वाली विश्व-सरकार के कारण शिक्षा-जगत् में प्रयोग करना सरल हो जाएगा।

निस्सन्देह व्यक्तिवाद की भी अपनी खूबियां हैं। तिस पर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उसे पूरी छूट नहीं दी जा सकती है, कम-से-कम वर्तमान उद्योग-प्रधान तथा सघन आबादी वाले समाज में उसे काफी हद तक सीमित करना ही पड़ेगा। हमें व्यक्तिवाद को केवल बाह्य आचार में ही नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी सीमित करना पड़ेगा। यह हमारी सभ्यता का तकाजा है। हम में से बड़े नगरों में रहने वाले लोग दायीं ओर से चलने, उचित रफ्तार से बढ़ने और केवल नियत स्थलों पर ही गली पार करने के आदी हो गए हैं। यदि ऐसा न हो तो शहरी जीवन इस सीमा तक अव्यवस्थित हो जायेगा कि उसमें रहना असम्भवप्राय: हो जाएगा। ये साधारण व्यवहार की बातें है। लेकिन जो नियम इन बातों पर लागू होता है, वही अन्य महत्त्वपूर्ण बातों पर भी सही उतरता है। सेन्ट जॉन बैप्टिस्ट अर्ध-नग्न अवस्था में चलते हुए कहा करते थे, "हे मन! अपने दुष्कृत्यों पर पश्चात्ताप कर। तुझे शीघ्र स्वर्ग की प्राप्ति हो जाएगी।" उस समय उनका यह व्यवहार किसी के लिए परेशानी का कारण नही हो सकता था। लेकिन यदि वे आज जीवित होते तथा लन्दन या न्यूयार्क की सड़को पर अपने इस अभिनय की एक आवृत्ति भी करते तो उसके फलस्वरूप जो भीड़ एकत्रित हो जाती तथा अव्यवस्था पैदा हो जाती, उसे देखते हुए पुलिस को उनसे केवल किसी भाषण-स्थल पर ही अपने अभिनय का प्रदर्शन करने के लिए निवेदन करना पड़ता। उद्योग-प्रधान सभ्यता मे केवल थोड़े व्यक्ति ही अकेले रहकर कोई कार्य कर सकते हैं; अन्यथा सभी लोगों को संगठनों का सदस्य बनकर कार्य करना पड़ता है। अतः नागरिकता तथा सहयोग की भावना और भी अधिक आवश्यक हो जाती है। यह तो है ही। लेकिन साथ-ही-साथ यह ध्यान भी रहे कि इस प्रकार व्यक्तित्व का पूर्ण हनन न हो जाए।

व्यक्ति के अपने या संसार के दृष्टिकोण से सुखी होने के लिये बाह्य और आन्तरिक दो स्तरों पर सामंजस्य का होना आवश्यक है। व्यक्ति की बुद्धि, आवेग और इच्छा जब अनुरूप होती है तो आन्तरिक सामंजस्य की स्थापना हो जाती है। बाह्य सामंजस्य-स्थापन व्यक्ति की इच्छाओं का अपने पड़ोसियों की इच्छाओं से मेल खाने से होता है। वर्तमान शिक्षा दोनों अर्थो में असफल रहती है। छात्र की बौद्धिकता को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता है। उसको बाल्यावस्था में ऐसी नैतिक व धार्मिक शिक्षा दी जाती है जो उसके प्रौढावस्था के बुद्धि-प्रधान दृष्टिकोण से मेल नहीं खाती। दूसरी ओर आवेग जीवन-पर्यन्त उसकी नैतिक व धार्मिक भावनाओं से प्रभावित रहते हैं। फलतः व्यक्ति का मन सदा उसकी बुद्धि तथा आवेगों की युद्ध-स्थली बना रहता है। इस युद्ध में इच्छा कभी बुद्धि का साथ देती है तो अन्यथा आवेगो का। यह अन्तर्द्वन्द्व व्यक्ति के जीवन को अशान्त

और दु:खमय बनाये रखता है। इस द्वन्द्व को बचाने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि बालकों को केवल ऐसे धार्मिक व नैतिक सिद्धांतों की शिक्षा दी जाए जो तर्कना के आधार पर भी सही हो। यह कार्य राज्य के सहयोग के बिना व्यक्तिगत विद्यालयों में भी किया जा सकता है। लेकिन यह केवल छोटे स्तर पर तथा प्रयोग के तौर पर ही सम्भव हो सकेगा। यदि व्यक्ति को इस अन्त-र्द्वन्द्व से छुटकारा दिलाना है तो यह कार्य बडे स्तर पर अत्यावश्यक हो जाता है और इसके लिए राज्य का सहयोग जरूरी है।

एक समाज मे रहने वाले व्यक्तियों की इच्छाओ मे तारतम्य स्थापित करने से बाह्य सामजस्य की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु मनुष्य-स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि उसमें इस सामजस्य की पूर्ण प्राप्ति कम सम्भव है। सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता मनुष्य-स्वभाव के मूल है। जब तक प्रतिद्वन्द्विता की भावना को समाप्त नहीं किया जाता है, बाह्य सामजस्य की पूर्ण-प्राप्ति एक दुराशा ही है। इस भावना को समाप्त करना भी सम्भव नही। ऐसा प्रयास व्यक्तित्व के हनन में भी प्रतिफलित हो सकता है। फिर व्यक्तित्व तथा अनियोजित प्रतिद्वन्द्विताओं से अधिक हानि भी नही होती है। दो युवक एक ही युवती के दिल को जीतने के लिए होड़ लगा सकते है। जब तक वे अपने प्रतियोगी की हत्या पर आमादा नही हो जाते है (जो केवल अपवादस्वरूप अवस्थाओं में ही होता है, तब तक वे एक-दूसरे को हानि नही पहुँचाते। राष्ट्रो तथा वर्गो मे चलने वाली सुनियोजित प्रतिद्वन्द्विता अधिक हानिकर होती है। विभिन्न राष्ट्रों व वर्गो के स्वार्थो में मतभेद इस प्रतियोगिता मे प्रतिफलित हो जाता है। इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण मनुष्य सभी वर्तमान वैज्ञानिक तथा तकनीकी सुविधाओं का उपभोग करने से वंचित है। वर्तमान शिक्षा राष्ट्रो की इस विद्वेषाग्नि मे घृताहुति का काम करती है। विद्यालयों मे अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार के द्वारा इस बुराई का निरीक्षण किया जा सकता है। इस प्रचार की सम्भावना तथा उसकी सफलता की आधारभूत आवश्यकता राजनीतिक स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीयवाद की विजय है। निस्सन्देह शिक्षा राजनीतिक सफलताओ को स्थायित्व प्रदानकर करती है। लेकिन जहाँ तक राजनीतिक सफलता, आदि का कारण बनने का प्रश्न है, उसमे जब तक शिक्षा वर्तमान राष्ट्रीय सरकारों के नियन्त्रण मे है, वह असमर्थ है।

कभी ऐसा समय भी रहा है, जब प्रतिद्वन्द्विताओं के फलस्वरूप लड़े जाने वाले युद्ध विजेता राष्ट्रो के लिये लाभकर रहे है। परन्तु अब वह वह जमाना लद चुका है। अब प्रत्येक विचारशील व्यक्ति महसूस करने लगा है कि सेनाओं का विघटन-राष्ट्रों के मध्य उठने वाले विवादो का अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत द्वारा हल, कर, प्रतिबन्धो की समाप्ति और विश्वभर मे आवागमन की स्वतंत्रता ही मनुष्य-जीवन को सुखी व समृद्धिशाली बना सकते है। एक ओर विज्ञान ने राष्ट्रीय

इकाइयों को समाप्त करके सारे विश्व को एक इकाई में परिणत कर लिया है, तो दूसरी ओर हमारे राजनीतिक विश्वास तथा संस्थाएँ उसी बाबा आदम के जमाने के हैं। यह युग की एक भारी विडम्बना है। यही वर्तमान पीढ़ी के दुःखों का मूल है। राष्ट्र आर्थिक पृथकता की नीति अपनाते हैं और फल होता है—उनकी बढ़ती हुई गरीबी। एक ओर तो श्रम बचाने वाली विधियों का ईजाद किया जाता तो दूसरी ओर बेकारी की सम्यता दिन-दूनी और रात चौगुनी बढती जाती है। जब हम अपने माल की खपत में असफल रहते हैं तो श्रमिक के वेतन में कमी कर लेते हैं। मानो इस प्रकार हम आशा करते हों कि उनकी क्रम बढ जायेगी। इन सारी परेशानियों से स्पष्ट है कि जहां य-शक्ति हमारी वैज्ञानिक प्रगति हमसे सारे विश्व को एक उत्पादक तथा उपभोक्ता इकाई समझने का तकाज़ा करती हैं, वहाँ हमारे राजनीतिक विश्वास हमें पूरे जोर के साथ राष्ट्रीय व वर्गीय प्रतिद्वन्द्विताओं में शरीक होने के लिये अनुप्रेरित करते हैं।

यह दुनिया पागलपन से भरी है। विशेषतः सन् १६१४ ई० से तो रचनात्मक प्रवृत्तियों की इति-श्री ही हो गई है। व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के लिए अपनी बुद्धि का सदुपयोग करने के स्थान पर मानवता को परस्पर-विरोधी पक्षों में विभाजित किए रखने के लिए उसका उपयोग कर रहा है। मानव मानवता की रक्षा तथा सुख के हेतु अपनी बुद्धि का उपयोग करने मे सरासर असफल हो रहा है। इसका मूल उन व्यक्तियों के अचेतन-मन में काम करने वाली विक्षिप्त व विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं— जिनको शैशव, बालपन तथा तरुणावस्था में स्नेह व सौहार्द्र की प्राप्ति न हो सकी। यह कितने दुःख की बात है कि उत्पादन के साधनों में निरन्तर सुधार के बावजूद हमारा दैन्य बढ़ता ही जा रहा है; आगामी युद्ध की भयावहता से परिचित होने पर भी हम अपने युवकों मे उन्ही विचारों के सृजन के लिए प्रयत्नशील हैं जो अवश्य ही विश्व को युद्ध की कराल अग्नि में झोक देंगे; इस विज्ञान-प्रधान युग मे भी हम समस्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण नही कर सकते तथा प्रकृति की शक्तियों को अपने वश मे करने पर भी आज मनुष्य अपने को मध्ययुगीन मनुष्य से अधिक निर्बल महसूस करता है। इस विडम्बना का कारण न तो वाह्य संसार मे है और न ही हमारे मन के सज्ञानात्मक भाग में। निस्सन्देह आज का मनुष्य इससे पूर्व के किसी भी युग के मनुष्य से अधिक ज्ञान रखता है। इस विडम्बना का स्रोत हमारी कामनओ, आवेग-प्रधान आदतों, युवावस्था में हम में पैदा की गई भावनाओं तथा शैशवास्था में हमारे मन में डाले गए भय में निहित है। इसका उपचार व्यक्ति को समझदार बनाना है। इसका एकमात्र उपाय उसे समझदारीपूर्ण शिक्षा उपलब्ध करना है। अभी तक हमनेजितनी बातों पर विचार किया है, हमने देखा है कि वे सभी मानव-समाज को विनाश की ओर ले जा रही हैं—धर्म मूढता को प्रोत्साहित करता है और वास्तविकता

के ज्ञान से वंचित रखता है; यौन-शिक्षा या तो मानसिक खराबियों को प्रेरित करती है या अचेतन-मन में ऐसी विक्षिप्तता ला देती है कि सुखी वयस्क जीवन असम्भवप्रायः हो जाता है; देश-प्रेम की शिक्षा मनुष्य को मनुष्य के खून के लिए लालायित बना देती है; वर्गभेद की भावना मनुष्य को आर्थिक अन्यायों को मौन स्वीकृति देने के लिए प्रेरित करती है तथा प्रतिद्वन्द्विता सामाजिक संघर्ष में कटुता ला देती है।

जिस दुनिया में राज्य की समग्र शक्तियाँ युवक में विक्षिप्तता, मूढ़ता, मनुष्य की हत्या के लिए तत्परता, आर्थिक अन्यायों के समर्थना और कटुता को प्रेरित करने में लगी रहती है, उसमे मनुष्य दुःखी हो—इनमे आश्चर्य की बात क्या है? जिस विश्व में इन विकृतियो के स्थान पर बुद्धिमत्ता, समझदारी, दयार्द्रता तथा न्यायप्रियता की भावना लाने का प्रयास करने वाले व्यक्तियों को दुराचारी व देशद्रोही के विशेषणों से विभूषित किया जाए, उसमें यदि मनुष्य संतप्त है तो आश्चर्य ही क्या है? मनुष्य आज पीड़ा, दुःख और दरिद्रता के दलदल में फँसा लड़खड़ा रहा है। इससे उसका उद्धार केवल उसके समझदारीपूर्ण निर्णय करने की क्षमता से ही सम्भव है। लेकिन इस तनाव, घृणा तथा दुःख-दैन्य से पूरित वातावरण मे यह सम्भव हो भी तो कैसे? फलतः आज की कई महान् विभूतियाँ मानवता के उद्धार की आशा ही त्याग बैठी हैं। लेकिन निराश होने में कोई समझदारी नहीं है। मनुष्य के सुख के सभी साधन प्रस्तुत है। आवश्यकता केवल यही है कि मनुष्य में उनके उपभोग की लालसा हो।